Brown Colour Book

DAMAGE BOOK

दो बहनें

और

अन्य कहानियाँ

लेखक

प्रेमचन्द

सरस्वती प्रेस बनारस

द्वितीय संस्करण : नवंबर, १९४८

मूल्य ।।।)

मुद्रक : श्रीपतराय, सरस्वती प्रेस, बनारस

दो बहनें

दोनों बहनें दो साल के बाद एक तीसरे नातेदार के घर मिलीं और खूब रो-धोकर खुश हुई, तो बड़ी बहन रूपकुमारी ने देखा कि छोटी बहन रामदुलारी सिर से पाँव तक गहनों से लदी हुई है, कुछ उसका रंग खुल गया है, स्वभाव में कुछ गरिमा आ गयी है और बातचीत करने में ज्यादा चतुर हो गयी है। कीमती बनारसी सारी और बेलदार उन्नावी मखमल के जम्पर ने उसके रूप को और भी चमका दिया था—वही रामदुलारी, जो लड़कपन में सिर के बाल खोले, फूहड़-सी, इधर-उधर खेला करती थी। अन्तिम बार रूपकुमारी ने उसे उसके विवाह में देखा था, दो साल पहले। तब भी उसकी शक्ल-सूरत में कुछ ज्यादा अन्तर न हुआ था। लम्बी तो हो गयी थी, मगर थी उतनी ही दुबली, उतनी ही फूहड़, उतनी ही मन्दबुद्धि। जरा जरा-सी बात पर रूठनेवाली, मगर आज तो कुछ हालत ही और थी, जैसे कली खिल गयी हो। और यह रूप इसने छिपा कहाँ रखा था? नहीं, आँखों को धोखा हो रहा है। यह रूप नहीं, केवल आँखों को लुभाने की शक्ति है, रेशम और मखमल और सोने के बल पर। वह रूप-रेखा थोड़े ही बदल जायगी। फिर भी आँखों में समायी जाती है। पचासों स्त्रियाँ जमा हैं, मगर यह आकर्षण, यह जादू और किसी में नहीं!

कहीं आईना मिलता तो वह जरा अपनी सूरत भी देखती। घर से चलते समय उसने आईना देखा था। अपने रूप को चमकाने के लिए जितना सान चढ़ा सकती थी, उसने कुछ अधिक ही चढ़ाया था। लेकिन अब वह सूरत स्मृति से मिट गयी है, उसकी धुँधली-सी परछाईं-भर हृदय-पट पर है। उसे फिर से देखने के लिए वह बेकरार हो रही है। वह अब तुलनात्मक दृष्टि से देखेगी, रामदुलारी में यह आकर्षण कहाँ से आया, इस रहस्य का पता लगावेगी। यों उसके पास मेकअप की सामग्रियों के साथ छोटा-सा आईना भी था, लेकिन भीड़-भाड़ में वह आईना देखने या बनाव-सिंगार करने की आदी नहीं है। ये औरतें दिल में न-जाने क्या समझें। मगर यहाँ कोई आईना तो

होगा ही। ड्राइंग रूम में तो जरूर ही होगा। वह उठकर ड्राइंग रूम में गयी और कद्देआदम शीशे में अपनी सूरत देखी। वहाँ इस वक्त और कोई न था। मर्द बाहर सहन में थे, औरतें गाने-बजाने में लगी हुई थीं। उसने आलोचनात्मक दृष्टि से एक-एक अंगों के एक-एक विलास को देखा। उसका अंग-विन्यास, उसकी मुख-छवि निष्कलंक है। मगर वह ताजगी, वह मादकता, वह माधुर्य नहीं है। हाँ, नहीं है। वह अपने को धोखे में नहीं डाल सकती। कारण क्या है? यही कि रामदुलारी आज खिली है, उसे खिले जमाना हो गया। लेकिन इस खयाल से उसका चित्त शान्त नहीं होता। वह रामदुलारी से हेठी बनकर नहीं रह सकती। ये पुरुष भी कितने गावदी होते हैं। किसी में भी सच्चे सौंदर्य की परख नहीं। इन्हें तो जवानी और चंचलता और हाव-भाव चाहिए। आँखें रखकर भी अन्धे बनते हैं। भला, इन बातों का रूप से क्या सम्बन्ध! ये तो उम्र के तमाशे हैं। असली रूप तो वह है, जो समय की परवाह न करे। उसके कपड़ों में रामदुलारी को खड़ा कर दो, फिर देखो कि यह सारा जादू कहाँ उड़ जाता है। चुड़ैल-सी नजर आवे। मगर इन अन्धों को कौन समझावे।

मगर रामदुलारी के घरवाले तो इतने सम्पन्न न थे। विवाह में जोड़े और गहने आये थे, वे तो बहुत ही निराशाजनक थे। खुशहाली का दूसरा कोई सामान भी न था। इसके ससुर एक रियासत के मुख्तारआम थे, और दूल्हा कॉलेज में पढ़ता था। इस दो साल में कहाँ से हुन बरस गया। कौन जाने, गहने कहीं से माँग लाई हो। कपड़े भी माँगे के हो सकते हैं। कुछ औरतों को अपनी हैसियत बढ़ाकर दिखाने की लत होती है। यह स्वाँग रामदुलारी को मुबारक रहे। मैं जैसी हूँ, वैसी अच्छी हूँ। प्रदर्शन का यह रोग कितना बढ़ता जाता है। घर में रोटियों का ठिकाना नहीं है, मर्द २५-३० रुपये पर कलम घिस रहा है; लेकिन देवीजी घर से निकलेंगी तो इस तरह बन-ठनकर, मानो कहीं की राजकुमारी हैं। बिसातियों के और दरजियों के तकाजे सहेंगी, बजाज के सामने हाथ जोड़ेंगी, शौहर की घुड़कियाँ खायँगी, रोवेंगी, रूठेंगी; मगर प्रदर्शन के उन्माद को नहीं रोक सकतीं। घरवाले भी सोचते होंगे, कितनी छिछोरी तबियत है इसकी। मगर यहाँ तो देवीजी ने बेहयाई पर कमर बाँध ली है कोई कितना ही हँसे, बेहया की बला दूर। उन्हें तो बस यही धुन सवार है कि

जिधर से निकल जायँ, उधर लोग हृदय पर हाथ रखकर रह जायँ। रामदुलारी ने जरूर किसीसे गहने और जेवर माँग लिये हैं। बेशर्म जो है!

उसके चेहरे पर आत्म-सम्मान की लाली दौड़ गयी। न सही उसके पास जेवर और कपड़े। उसे किसी के सामने लज्जित तो नहीं होना पड़ता। किसीसे मुँह तो नहीं चुराना पड़ता। एक-एक लाख के तो उसके दो लड़के हैं। भगवान् उन्हें चिरायु करे, वह इसीमें खुश हैं। खुद अच्छा पहन लेने और अच्छा खा लेने से तो जीवन का उद्देश्य नहीं पूरा हो जाता। उसके घरवाले गरीब हैं, पर उनकी इज्जत तो है, किसीका गला तो नहीं दबाते, किसीका शाप तो नहीं लेते।

इस तरह अपने मन को ढाढ़स देकर वह फिर बरामदे में आयी, तो रामदुलारी ने जैसे उसे दया की आँखों से देखकर कहा—जीजाजी की कुछ तरक्की-तरक्की हुई कि नहीं, बहन? या अभी तक वही ७५) पर कलम घिस रहे हैं?

रूपकुमारी की देह में आग-सी लग गयी। उफ्फोह रे दिमाग! मानो इसका पति लाट ही तो है। अकड़कर बोली—तरक्की क्यों नहीं हुई। अब सौ के ग्रेड में हैं। आजकल यह भी गनीमत है, नहीं तो अच्छे-अच्छे एम० ए० पासों को देखती हूँ कि कोई टके को नहीं पूछता। तेरा शौहर तो अब बी० ए० में होगा?

रामदुलारी ने नाक सिकोड़कर कहा—उन्होंने तो पढ़ना छोड़ दिया बहन, पढ़कर औकात खराब करना था और क्या। एक कम्पनी के एजेंट हो गये हैं, अब ढाई सौ रुपये माहवार पाते हैं। कमीशन ऊपर से। पाँच रुपये रोज सफर-खर्च के भी मिलते हैं। यह समझ लो कि पाँच सौ का औसत पड़ जाता है। डेढ़ सौ माहवार तो उनका निज का खर्च है, बहन। ऊँचे ओहदे के लिए अच्छी शान भी तो चाहिए। साढ़े तीन सौ बेदाग घर दे देते हैं। उसमें से सौ रुपये मिलते हैं, ढाई सौ में घर का खर्च खुशफेली से चला जाता है। एम० ए० पास करके क्या करते।

रूपकुमारी इस कथन को शेखचिल्ली की दास्तान से ज्यादा महत्व नहीं देना चाहती, मगर रामदुलारी के लहजे (ध्वनि) में इतनी विश्वासोत्पादकता है कि अपनी निम्नचेतना में उससे प्रभावित हो रही है और उसके मुख पर पराजय की खिन्नता साफ झलक रही है। मगर, यदि उसे बिलकुल पागल नहीं हो जाना है

तो इस ज्वाला को हृदय से निकाल देना पड़ेगा। गिरह करके अपने मन को विश्वास दिलाना पड़ेगा कि इसके काव्य में एक चौथाई से ज्यादा सत्य नहीं है। एक चौथाई तक वह सह सकती है। इससे ज्यादा उससे न सहा जायगा। इसके साथ ही उसके दिल में धड़कन भी है कि कहीं यह कथा सत्य निकली, तो वह रामदुलारी को कैसे मुँह दिखावेगी। उसे भय है कि कहीं अपनी आँखों से आँसू न निकल पड़ें। कहाँ पचहत्तर और कहाँ पाँच सौ! इतनी बड़ी रकम आत्मा की हत्या करके भी क्यों न मिले, फिर भी रूपकुमारी के लिए असह्य है। आत्मा का मूल्य अधिक-से-अधिक सौ रुपये हो सकता है। पाँच सौ किसी हालत में भी नहीं।

उसने परिहास के भाव से पूछा—जब एजेंटी में इतना वेतन और भत्ता मिलता है, तो ये सारे कॉलेज बंद क्यों नहीं हो जाते? हजारों लड़के क्यों अपनी जिन्दगी खराब करते हैं?

रामदुलारी बहन के खिसियानेपन का आनंद उठाती हुई बोली—बहन, तुम यहाँ भूल कर रही हो। एम० ए० तो सभी पास हो सकते हैं, मगर एजेंटी विरले ही किसी को आती है। यह तो ईश्वर की देन है। कोई जिन्दगी-भर पढ़ता रहे, मगर यह जरूरी नहीं कि वह अच्छा एजेंट भी हो जाय। रुपये पैदा करना दूसरी बात है, आलिम-फाजिल हो जाना दूसरी बात। अपने माल की श्रेष्ठता का विश्वास पैदा करा देना, यह दिल में जमा देना कि इससे सस्ता और टिकाऊ माल बाजार में मिल ही नहीं सकता, आसान काम नहीं है। एक-से-एक घाघों से उनका साबका पड़ता है। बड़े-बड़े राजाओं और रईसों का मन फेरना पड़ता है, तब जाके कहीं माल बिकता है। मामूली आदमी तो राजाओं और नवाबों के सामने जा ही न सके। पहुँच ही न हो। और किसी तरह पहुँच भी जाय, तो जबान न खुले। पहले-पहल तो इन्हें भी भिझक हुई थी, मगर अब तो इस सागर के मगर हैं। अगले साल तरक्की होनेवाली है।

रूपकुमारी की धमनियों में रक्त की गति जैसे बन्द हुई जा रही है। निर्दयी आकाश गिर क्यों नहीं पड़ता! पाषाण-हृदया धरती फट क्यों नहीं जाती! यह कहाँ का न्याय है कि रूपकुमारी जो रूपवती है, तमीजदार है, सुघड़ है, पति पर जान देती है, बच्चों को प्राणों से भी ज्यादा चाहती है, थोड़े में गृहस्थी

को इतने अच्छे ढंग से चलाती है, उसकी तो यह दुर्गति, और यह घमंडिन, बदतमीज, विलासिनी, चंचल, मुँहफट छोकरी, जो अभी कल तक सर खाले घूमा करती थी, रानी बन जाय? मगर उसे अब भी कुछ आशा बाकी थी। शायद आगे चलकर उसके चित्त की शांति का कोई मार्ग निकल आवे।

उसी परिहास के स्वर में बोली—तब तो शायद एक हजार मिलने लगें?

'एक हजार तो नहीं, पर छः सौ में सन्देह नहीं।'

'कोई आँखों का अन्धा मालिक फँस गया होगा?'

व्यापारी आँखों के अन्धे नहीं होते दीदी! उनकी आँखें हमारी-तुम्हारी आँखों से कहीं तेज होती हैं। जब तुम उन्हें छः हजार कमाकर दो, तब कहीं छः सौ मिलें। जो सारी दुनिया को चराये, उसे कौन बेवकूफ बनावेगा।'

परिहास से काम न चलते देखकर रूपकुमारी ने अपमान का अस्त्र निकाला—'मैं तो इसे कोई बहुत अच्छा पेशा नहीं समझती। सारे दिन झूठ के तूमार बाँधो। यह तो ठग-विद्या है।'

रामदुलारी जोर से हँसी। बहन पर उसने पूरी विजय पायी थी।

'इस तरह तो जितने वकील बैरिस्टर हैं, सभी ठग-विद्या करते हैं। अपने मुवक्किल के फायदे के लिए उन्हें क्या नहीं करना पड़ता? झूठी शहादतें तक बनानी पड़ती हैं। मगर उन्हीं वकीलों और बैरिस्टरों को हम अपना लीडर कहते है, उन्हें अपनी कौमी सभाओं का प्रधान बनाते हैं, उनकी गाड़ियाँ खींचते हैं, उनपर फूलों की और अशर्फियों की वर्षा करते हैं, उनके नाम से सड़कें, प्रतिमाएँ और संस्थाएँ बनाते हैं। आजकल दुनिया पैसा देखती है। आजकल ही क्यों? हमेशा से धन की यही महिमा रही है। पैसे कैसे आये, यह कोई नहीं देखता। जो पैसेवाले हैं, उसी की पूजा होती है। जो अभागे हैं, अयोग्य हैं या भीरु हैं, वे आत्मा और सदाचार की दुहाई देकर अपने आँसू पोछते हैं। नहीं तो, आत्मा और सदाचार को कौन पूछता है।'

रूपकुमारी खामोश हो गयी। अब उसे यह सत्य उसकी सारी वेदनाओं के साथ स्वीकार करना पड़ेगा कि रामदुलारी उससे ज्यादा भाग्यवान् है। इससे अब त्राण नहीं। परिहास या अनादर से वह अपनी तंगदिली का प्रमाण देने के सिवा और क्या पावेगी। उसे किसी बहाने से दुलारी के घर जाकर असलियत

की छानबीन करनी पड़ेगी। अगर रामदुलारी वास्तव में लक्ष्मी का वरदान पा गयी है, तो रूपकुमारी अपनी किस्मत ठोंककर बैठ रहेगी। समझ लेगी कि दुनिया में कहीं न्याय नहीं है, कहीं ईमानदारी की पूछ नहीं है।

मगर क्या सचमुच उसे इस विचार से संतोष होगा? यहाँ कौन ईमानदार है? वही; जिसे बेईमानी करने का अवसर नहीं है और न इतनी बुद्धि या मनोबल है कि वह अवसर पैदा कर ले। उसके पति ७५) पाते हैं, पर क्या दस-बीस रुपये और ऊपर से मिल जायँ तो वह खुश होकर ले न लेंगे? उनकी ईमानदारी और सत्यवादिता उसी समय तक है, जब तक अवसर नहीं मिलता। जिस दिन मौका मिला, सारी सत्यवादिता धरी रह जायगी। और, क्या रूपकुमारी में इतना नैतिक बल है कि वह अपने पति को हराम का माल हजम करने से रोक दे? रोकना तो दूर की बात है, वह प्रसन्न होगी, शायद पतिदेव की पीठ ठोंकेगी। अभी उनके दफ्तर से आने के समय वह मन-मारे बैठी रहती है। तब वह द्वार पर खड़ी होकर उनकी बाट जोहेगी, और ज्योंही वह घर में आवेंगे, उनकी जेबों की तलाशी लेगी।

आँगन में गाना-बजाना हो रहा था। रामदुलारी उमंग के साथ गा रही थी, और रूपकुमारी वहीं बरामदे में उदास बैठी हुई थी। न-जाने क्यों उसके सिर में दर्द होने लगा था। कोई गाये, कोई नाचे, उससे प्रयोजन नहीं। वह तो अभागिन है। रोने के लिए पैदा की गयी है।

नौ बजे रात को मेहमान रुखसत होने लगे। रूपकुमारी भी उठी। एक्का मँगवाने जा रही थी कि रामदुलारी ने कहा—एक्का मँगवाकर क्या करोगी, बहन? मुझे लेने के लिए कार आती होगी। चलो, दो-चार दिन मेरे यहाँ रहो, फिर चली जाना, मैं जीजाजी को कहला भेजूँगी, कि वे तुम्हारा इन्तजार न करें।

रूपकुमारी का यह अन्तिम अस्त्र भी बेकार हो गया। रामदुलारी के घर जाकर हाल-चाल की टोह लेने की इच्छा गायब हो गयी। वह अब अपने घर जायगी और मुँह ढाँपकर पड़ रहेगी। इन फटेहालों क्यों किसी के घर जाय। बोली—नहीं, अभी तो मुझे फुरसत नहीं है। बच्चे घबरा रहे होंगे। फिर कभी आऊँगी।

'क्या रात-भर भी न ठहरोगी?'

'नहीं।'

'अच्छा बताओ, कब आओगी। मैं सवारी भेज दूँगी।'

'मैं खुद कहला भेजूँगी।'

'तुम्हें याद न रहेगी। साल-भर हो गया, भूलकर भी याद न किया। मैं इसी इंतजार में थी कि दीदी बुलावें तो चलूँ। एक ही शहर में रहते हैं, फिर भी इतनी दूर कि साल-भर गुजर जायँ और मुलाकात तक न हो।'

रूपकुमारी इसके सिवा और क्या कहे कि घर के कामों से छुट्टी ही नहीं मिलती। कई बार उसने इरादा किया कि दुलारी को बुलावे, मगर अवसर ही न मिला।

सहसा रामदुलारी के पति मि० गुरुसेवक ने आकर बड़ी साली को सलाम किया। बिलकुल अँगरेजी सज-धज, मुँह में चुरट, कलाई पर सोने की घड़ी, आँखों पर सुनहरी ऐनक, जैसे कोई सिविलियन हो। चेहरे से जेहानत और शराफत बरस रही थी। वह इतना रूपवान् और सजीला है, रूपकुमारी को अनुमान न था। कपड़े जैसे उसकी देह पर खिल रहे थे।

आशीर्वाद देकर बोली—आज यहाँ न आती तो तुमसे मुलाकात क्यों होती।

गुरुसेवक हँसकर बोला—यह उलटी शिकायत! क्यों न हो। कभी आपने बुलाया और मैं न गया?

'मैं नहीं जानती थी कि तुम अपने को मेहमान समझते हो। वह भी तो तुम्हारा ही घर है।'

रूपकुमारी देख रही थी कि मन में उससे ईर्ष्या रखते हुए भी वह कितनी वाणी-मधुर, कितनी स्निग्ध, कितनी अनुग्रह-प्रार्थिनी होती जा रही है।

गुरुसेवक ने उदार मन से कहा—हाँ, अब मान गया भाभी साहब, बेशक मेरी गलती है। इस दृष्टि से मैंने विचार नहीं किया था। मगर आज तो मेरे घर रहिए।

'नहीं, आज बिलकुल अवकाश नहीं है। फिर कभी आऊँगी। लड़के घबरा रहे होंगे।'

रामदुलारी बोली—मैं कितना कह के हार गयी, मानती ही नहीं।

दोनों बहनें कार की पिछली सीट पर बैठीं। गुरुसेवक ड्राइव करता हुआ

चला। जरा देर में उसका मकान आ गया। रामदुलारी ने फिर बहन से उतरने के लिए आग्रह किया। पर वह न मानी। लड़के घबरा रहे होंगे। आखिर रामदुलारी उससे गले मिलकर अन्दर चली गई। गुरुसेवक ने कार बढ़ाई। रूपकुमारी ने उड़ती हुई निगाह से रामदुलारी का मकान देखा और वह ठोस सत्य एक शलाका की भाँति उसके कलेजे में चुभ गया।

कुछ दूर चलकर गुरुसेवक बोला—भाभी, मैंने तो अपने लिए अच्छा रास्ता निकाल लिया। अगर दो-चार साल इसी तरह काम चलता रहा, तो आदमी बन जाऊँगा।

रूपकुमारी ने सहानुभूति के साथ कहा—रामदुलारी ने मुझसे बताया था। भगवान् करे, जहाँ रहो, खुश रहो। मगर जरा हाथ-पैर सँभालके रहना।

'मैं मालिक की आँख बचाकर एक पैसा भी लेना पाप समझता हूँ, बहन! दौलत का मजा तो तभी है कि ईमान सलामत रहे। ईमान खोकर पैसे मिले तो क्या। मैं ऐसी दौलत को त्याज्य समझता हूँ, और आँख किसकी बचाऊँ? सब सियाह-सुफेद तो मेरे हाथ में है। मालिक तो रहा नहीं, केवल उसकी बेवा है। उसने सब कुछ मेरे हाथ में छोड़ रखा है। मैंने उसका कारोबार न सँभाल लिया होता, तो सब-कुछ चौपट हो जाता। मेरे सामने तो मालिक सिर्फ तीन महीने जिन्दा रहे। मगर आदमी को परखना खूब जानते थे। मुझे १००) पर रखा और एक ही महीने में २५०) कर दिये। आप लोगों की दुआ से पहले ही महीने में मैंने बारह हजार का काम किया।'

'काम क्या करना पड़ता है?' रूपकुमारी ने बिना किसी उद्देश्य के पूछा।

'वही मशीनों की एजेंटी, तरह-तरह की मशीनें मँगाना और बेचना।'—ठंढा जवाब था।

रूपकुमारी का मनहूस घर आ गया। द्वार पर एक लालटेन टिमटिमा रही थी। उसके पति उमानाथ द्वार पर टहल रहे थे। मगर रूपकुमारी ने गुरुसेवक से उतरने के लिए आग्रह नहीं किया। एक बार शिष्टाचार के नाते कहा जरूर, पर जोर नहीं दिया और उमानाथ तो गुरुसेवक से मुखातिब भी न हुए।

रूपकुमारी को वह घर अब कब्रस्तान-सा लग रहा था, जैसे फूटा हुआ भाग्य हो। न कहीं फर्श, न फरनीचर, न गमले। दो-चार टूटी-टाटी तिपाइयाँ, एक

लँगड़ी मेज, चार-पाँच पुरानी-धुरानी खाटें, यही उस घर की बिसात थी। आज सुबह तक रूपकुमारी इसी घर में खुश थी, लेकिन अब यह घर उसे काटे खा रहा है। लड़के अम्माँ-अम्माँ करके दौड़े, मगर दोनों को झिड़क दिया। उसके सिर में दर्द है, वह किसी से न बोलेगी, कोई उसे न छेड़े! अभी घर में खाना नहीं पका। पकाता कौन? लड़कों ने तो दूध पी लिया है, किन्तु उमानाथ ने कुछ नहीं खाया। इसी इन्तजार में थे कि रूपकुमारी आवे तो पकावे। पर रूपकुमारी के सिर में दर्द है। मजबूर होकर बाजार से पूरियाँ लानी पड़ेंगी।

रूपकुमारी ने तिरस्कार के स्वर में कहा—तुम अब तक मेरा इन्तजार क्यों करते रहे? मैंने तो खाना पकाने की नौकरी नहीं लिखाई है। और जो मैं रात को वहीं रह जाती? आखिर तुम कोई महराजिन क्यों नहीं रख लेते? क्या जिन्दगी-भर मुझी को पीसते रहोगे?

उमानाथ ने उसकी तरफ आहत विस्मय की आँखों से देखा। उसके बिगड़ उठने का कोई कारण उनकी समझ में न आया। रूपकुमारी से उन्होंने हमेशा निरापद सहयोग पाया है; निरापद ही नहीं, सहानुभूतिपूर्ण भी। उन्होंने कई बार उससे महराजिन रख लेने का प्रस्ताव खुद किया था, पर उसने बराबर यही जवाब दिया कि आखिर मैं बैठे-बैठे क्या करूँगी? चार-पाँच रुपये का खर्च बढ़ाने से क्या फायदा? वही पैसे तो बच्चों के मक्खन में खर्च होते हैं।

और आज वह इतनी निर्ममता से उलाहना दे रही है, जैसे गुस्से में भरी हो।

अपनी सफाई देते हुए बोले—महराजिन रखने के लिए तो मैंने खुद तुमसे कई बार कहा।

'तो लाकर रख क्यों न दिया? मैं उसे निकाल देती तो कहते!'

'हाँ, यह गलती हुई।'

'तुमने कभी सच्चे दिल से नहीं कहा', रूपकुमारी ने और भी प्रचण्ड होकर कहा—'तुमने केवल मेरा मन लेने के लिए कहा। मैं ऐसी भोली नहीं हूँ कि तुम्हारे मन का रहस्य न समझूँ। तुम्हारे दिल में कभी मेरे आराम का विचार आया ही नहीं। तुम तो खुश थे कि अच्छी लौंडी मिल गयी है। एक रोटी खाती और चुपचाप पड़ी रहती है। महज खाने और कपड़े पर। वह भी जब घर-भर की जरूरतों से बचे। पचहत्तर रुपल्लियाँ लाकर मेरे हाथ पर रख देते हो और सारी

दुनिया का खर्च। मेरा दिल ही जानता है, मुझे कितनी कतर-ब्योंत करनी पड़ती है। क्या पहनूँ और क्या ओढ़ूँ! तुम्हारे साथ जिन्दगी खराब हो गयी! संसार में ऐसे भी मर्द हैं, जो स्त्री के लिए आसमान के तारे तोड़ लाते हैं? गुरुसेवक ही को देखो, दूर क्यों जाओ। तुमसे कम पढ़ा है, उम्र में तुमसे कहीं कम है, मगर पाँच सौ का महीना लाता है, और रामदुलारी रानी बनी बैठी रहती है। तुम्हारे लिए यही ७५) बहुत हैं। राँड़ माँड़ ही में मगन! तुम नाहक मर्द हुए, तुम्हें तो औरत होना चाहिए था। औरतों के दिल में कैसे-कैसे अरमान होते हैं! मगर मैं तुम्हारे लिए घर की मुर्गी का बासी साग हूँ। तुम्हें तो कोई तकलीफ होती नहीं। तुम्हें तो कपड़े भी अच्छे चाहिए, खाना भी अच्छा चाहिए, क्योंकि तुम पुरुष हो, बाहर से कमाकर लाते हो। मैं चाहे जैसे रहूँ, तुम्हारी बला से।'

वाग्बाणों का यह सिलसिला कई मिनट तक जारी रहा और उमानाथ चुपचाप सुनते रहे। अपनी जान में उन्होंने रूपकुमारी को शिकायत का कभी मौका नहीं दिया। उनका वेतन कम है, यह सत्य है; पर यह उनके बस की बात तो नहीं। वह दिल लगाकर अपना काम करते हैं, अफसरों को खुश रखने की सदैव चेष्टा करते हैं। इस साल बड़े बाबू के छोटे सुपुत्र को छः महीने तक बिला नागा पढ़ाया। इसीलिए तो कि वह प्रसन्न रहें। अब वह और क्या करें। रूपकुमारी की खफगी का रहस्य वह समझ गये। अगर गुरुसेवक वास्तव में पाँच सौ रुपये लाता है, तो बेशक वह भाग्य का बली है। लेकिन दूसरों की ऊँची पेशानी देखकर अपना माथा तो नहीं फोड़ा जाता। किसी संयोग से उसे यह अवसर मिल गया। मगर हर एक को तो ऐसे अवसर नहीं मिलते। वह इसका पता लगावेंगे कि सचमुच उसे पाँच सौ मिलते हैं, या महज डींग है। और मान लिया कि पाँच सौ ही मिलते हैं, तो क्या इससे रूपकुमारी को यह हक है कि वह उनको ताने दे और उन्हें जली-कटी सुनावे। अगर इसी तरह वह भी रूपकुमारी से ज्यादा रूपवती और सुशीला रमणी को देखकर रूपकुमारी को कोसना शुरू करें तो कैसा हो! रूपकुमारी सुन्दरी है, मृदुभाषिणी है, त्यागमयी है; लेकिन उससे बढ़कर सुन्दरी, मृदुभाषिणी, त्यागमयी देवियों से दुनिया खाली नहीं है। तो क्या इसी कारण वह रूपकुमारी का अनादर करें?

एक समय था, जब उनकी नजरों में रूपकुमारी से ज्यादा रूपवती रमणी

संसार में न थी; लेकिन वह उन्माद कब का शांत हो गया। भावुकता के संसार से वास्तविक जीवन में आये उन्हें एक युग बीत गया। अब तो विवाहित जीवन का उन्हें काफी अनुभव हो गया है। एक को दूसरे के गुण-दोष मालूम हो गये हैं। अब तो संतोष में ही उनका जीवन सुखी रह सकता है। मगर रूपकुमारी समझदार होकर भी इतनी मोटी-सी बात नहीं समझती।

फिर भी उन्हें रूपकुमारी से सहानुभूति ही हुई। वह उदार-प्रकृति के आदमी थे और कल्पनाशील भी। उसकी कटु बातों का कुछ जवाब नहीं दिया। शर्बत की तरह पी गये। अपनी बहन के ठाठ देखकर एक क्षण के लिए रूपकुमारी के मन में ऐसे निराशाजनक, अन्यायपूर्ण, दुःखद भावों का उठना बिलकुल स्वाभाविक है। रूपकुमारी कोई संन्यासिनी नहीं, विरागिनी नहीं कि हरएक दशा में अविचलित रहे।

इस तरह अपने मन को समझाकर उमानाथ ने गुरुसेवक के विषय में तहकीकात करने का संकल्प किया।

एक सप्ताह तक रूपकुमारी मानसिक अशांति की दशा में रही। बात-बात पर झुँझलाती, लड़कों को डाटती, पति को कोसती, अपने नसीबों को रोती। घर का काम तो करना ही पड़ता था, लेकिन अब इस काम में उसे आनन्द न आता था। बेगार-सी टालती थी। घर की जिन पुरानी-धुरानी चीजों से उसका आत्मीय संबंध-सा हो गया था, जिनकी सफाई और सजावट में वह व्यस्त रहा करती थी, उनकी तरफ अब आँख उठाकर भी न देखती। घर में एक ही खिदमतगार था। उसने जब देखा, बहूजी घर की तरफ से खुद ही लापरवाह हैं, तो उसे क्या गरज थी कि सफाई करता। जो चीज जहाँ पड़ी थी, वहीं पड़ी रहती। कौन उठाकर ठिकाने से रखे। बच्चे माँ से बोलते डरते थे और उमानाथ तो उसके साये से भागते थे। जो कुछ सामने थाली में आ जाता, उसे पेट में डाल लेते और दफ्तर चले जाते। दफ्तर से लौटकर दोनों बच्चों को साथ ले लेते और कहीं घूमने निकल जाते। रूपकुमारी से कुछ कहना बारूद में दियासलाई लगाना था। हाँ, उनकी वह तहकीकात जारी थी।

एक दिन उमानाथ दफ्तर से लौटे, तो उनके साथ गुरुसेव कभी थे। रूपकुमारी ने आज कई दिन के बाद परिस्थिति से सहयोग कर लिया था और

इस वक्त झाड़न लिये कुरसियाँ और तिपाइयाँ साफ कर रही थी कि गुरुसेवक ने अंदर पहुँचकर सलाम किया। रूपकुमारी दिल में कट गयी। उमानाथ पर ऐसा क्रोध आया कि उनका मुँह नोच ले। इन्हें लाकर यहाँ क्यों खड़ा कर दिया? न कहना, न सुनना, बस बुला लाये। उसे इस दशा में देखकर गुरुसेवक दिल में क्या कहता होगा। मगर इन्हें अक्ल आयी ही कब थी। वह अपना परदा ढाँकती फिरती है और आप उसे खोलते फिरते हैं। जरा भी लज्जा नहीं। जैसे बेहयाई का बाना पहन लिया है। बरबस उसका अपमान करते हैं। न-जाने उसने उनका क्या बिगाड़ा है।

आशीर्वाद देकर कुशल-समाचार पूछा और कुरसी रख दी। गुरुसेवक ने बैठते हुए कहा—आज भाई साहब ने मेरी दावत की है; मैं उनकी दावत पर तो न आता, लेकिन जब उन्होंने कहा, तुम्हारी भाभी का कड़ा तकाजा है, तब मुझे समय निकालना पड़ा।

रूपकुमारी ने बात बनाई। घर का कलह छिपाना पड़ा—तुमसे उस दिन कुछ बातचीत न हो पायी। जी लगा हुआ था।

गुरुसेवक ने कमरे के चारों तरफ नजर दौड़ाकर कहा—इस पिंजड़े में तो आप लोगों को बड़ी तकलीफ होगी।

रूपकुमारी को ज्ञात हुआ, यह युवक कितना सुरुचिहीन, कितना अरसिक है। दूसरों के मनोभावों का आदर करना जैसे जानता ही नहीं। इसे इतनी-सी बात भी नहीं मालूम कि दुनिया में सभी भाग्यशाली नहीं होते। लाखों में एक ही कहीं ऐसा भाग्यवान् निकलता है। और उसे भाग्यवान् ही क्यों कहा जाय? जहाँ बहुतों को दाना न मयस्सर हो, वहाँ थोड़े-से आदमियों के भोग-विलास में कौन-सा सौभाग्य! जहाँ बहुत-से आदमी भूखों मर रहे हों, वहाँ दो-चार आदमी मोहनभोग उड़ावें, तो यह उनकी बेहयाई और हृदयहीनता है, सौभा‌ग्य कभी नहीं।

कुछ चिढ़कर बोली—पिंजड़े में कठघरे में रहने से अच्छा है। पिंजड़े में निरीह पक्षी रहते हैं, कठघरा तो घातक जन्तुओं का ही निवासस्थान है।

गुरुसेवक शायद यह संकेत न समझ सका, बोला—मेरा तो इस घर में दम घुट जाय। मैं आपके लिए अपने घर के पास ही एक मकान ठीक कर दूँगा। खूब

लम्बा-चौड़ा। आपसे कुछ किराया न लिया जायगा। मकान हमारी मालकिन का है। मैं भी उसी के एक मकान में रहता हूँ। सैकड़ों मकान हैं उसके पास, सैकड़ों। सब मेरे अख्तियार में हैं। जिसे जो मकान चाहूँ, दे दूँ। मेरे अख्तियार में है कि किराया लूँ या न लूँ। मैं आपके लिए सबसे अच्छा मकान ठीक करूँगा। मैं आपका बहुत अदब करता हूँ।

रूपकुमारी समझ गयी, महाशय इस वक्त नशे में हैं। तभी यों बहक रहे हैं। अब उसने गौर से देखा तो उसकी आँखें सिकुड़ गयी थीं, गाल कुछ फूल गये थे। जबान भी लड़खड़ाने लगी थी। एक जवान, खूबसूरत, शरीफ चेहरा कुछ ऐसा शेखीबाज और निर्लज्ज हो गया कि उसे देखकर घृणा होती थी।

उसने एक क्षण के बाद फिर बहकना शुरू किया—मैं आपका बहुत अदब करता हूँ, जी हाँ। आप मेरी बड़ी भाभी हैं। आपके लिए मेरी जान हाजिर है। आपके लिए एक मकान नहीं, सौ मकान तैयार हैं। मैं मिसेज लोहिया का मुख्तार हूँ। सब कुछ मेरे हाथ में है। सब कुछ। मैं जो कुछ कहता हूँ, वह आँखें बन्द करके मंजूर कर लेती है। मुझे अपना बेटा समझती है। मैं उसकी सारी जायदाद का मालिक हूँ। मि० लोहिया ने मुझे २०) पर रखा था, २०) पर। वह बड़ा मालदार था। मगर किसी को नहीं मालूम, उसकी दौलत कहाँ से आती थी। किसी को नहीं मालूम। मेरे सिवा कोई नहीं जानता। वह खुफिया-फरोश था। किसी से कहना नहीं। वह चोरी से कोकीन बेचता था। लाखों की आमदनी थी उसकी। अब वही व्यापार मैं करता हूँ। हर शहर में हमारे खुफिया एजेण्ट हैं। मि० लोहिया ने मुझे इस फन में उस्ताद बना दिया। जी हाँ। मजाल नहीं कि कोई मुझे गिरफ्तार कर ले। बड़े-बड़े अफसरों से मेरा याराना है। उनके मुँह में नोटों के पुलिन्दे ठूँस-ठूँसकर उनकी आवाज बन्द कर देता हूँ। कोई चूँ नहीं कर सकता। दिन-दहाड़े बेचता हूँ। हिसाब में लिखता हूँ, एक हजार रिशवत दी। देता हूँ पाँच सौ। बाकी यारों का है। बेदरेग रुपये आते हैं और बेदरेग खर्च करता हूँ। बुढ़िया को रामनाम से मतलब है। सत्तर चूहे खाके अब हज करने चली है। कोई मेरा हाथ पकड़नेवाला नहीं, कोई बोलनेवाला नहीं, (जेब से नोटों का एक बण्डल निकालकर) यह आपके चरणों की भेंट है। मुझे दुआ दीजिए कि इसी शान से जिन्दगी कट जाय। जो आत्मा

और सदाचार के उपासक हैं, उन्हें कुबेर लातें मारता है। लक्ष्मी उनको पकड़ती है, जो उसके लिए अपना दीन और ईमान सब कुछ छोड़ने को तैयार हैं। मुझे बुरा न कहिए। मैं कौन मालदार हूँ। जितने धनी हैं, वे सब-के-सब लुटेरे हैं। पक्के लुटेरे, डाकू। कल मेरे पास रुपये हो जायँ और मैं एक धर्मशाला बनवा दूँ। फिर देखिए, मेरी कितनी वाह-वाह होती है। कौन पूछता है, मुझे दौलत कहाँ से मिली। जिस महात्मा को कहिए, बुलाकर उससे अपनी प्रशंसा करवा लूँ। मि० लोहिया को महात्माओं ने धर्म-भूषण की उपाधि दी थी। इन स्वार्थी, पेट के बन्दों ने। उस बुड्ढे को, जिससे बड़ा कुकर्मी संसार में न होगा। यहाँ तो लूट है। एक वकील आध घण्टा बहस करके पाँच सौ मार लेता है, एक डाक्टर जरा-सा नश्तर लगाकर एक हजार सीधा कर लेता है, एक जुआरी स्पेकुलेशन में एक-एक दिन में, लाखों का वारा-न्यारा करता है। अगर उनकी आमदनी जायज है, तो मेरी आमदनी भी जायज है। जी हाँ, जायज है। मेरी निगाह में बड़े-से-बड़े मालदार की भी कोई इज्जत नहीं। मैं जानता हूँ, वह कितना बड़ा हथकण्डेबाज है। यहाँ जो आदमी आँखों में धूल झोंक सके, वही सफल है। गरीबों को लूटकर मालदार हो जाना समाज की पुरानी परिपाटी है। मैं भी वही करता हूँ, जो दूसरे करते हैं। जीवन का उद्देश्य है, ऐश करना। मैं भी खूब लूटूँगा, खूब ऐश करूँगा और बुढ़ापे में खूब खैरात करूँगा; और एक दिन लीडर बन जाऊँगा। कहिए गिना दूँ, यहाँ कितने लोग जुआ खेल-खेलकर करोड़पती होगये, कितने औरतों का बाजार लगाकर करोड़पती होगये...

सहसा उमानाथ ने आकर कहा—मि० गुरुसेवक, क्या कर रहे हो? चलो, चाय पी लो। ठण्डी हो रही है।

गुरुसेवक ऐसा हड़बड़ाकर उठा, मानो अपने सचेत रहने का प्रमाण देना चाहता हो। मगर पाँव लड़खड़ाये और जमीन पर गिर पड़ा। फिर सँभलकर उठा और झूमता-झूमता ठोकरें खाता, बाहर चला गया। रूपकुमारी ने आजादी की साँस ली। यहाँ बैठे-बैठे उसे होलदिल-सा हो रहा था। कमरे की हवा जैसे कुछ भारी हो गयी थी। जो प्रेरणाएँ कई दिन से अच्छे-अच्छे मनोहर रूप भरकर उसके मन में आ रही थीं, आज उसे उनका असली, बीभत्स, घिनावना रूप नजर आया। जिस त्याग, सादगी और साधुता के वातावरण में अब तक उसकी जिन्दगी

गुज़री थी, उसमें इस तरह के दाव-पेंच, छल-कपट और पतित स्वार्थ का घुसना बिलकुल ऐसा ही था, जैसे किसी बाग में साँड़ों का एक झुण्ड घुस आवे। इन दामों वह दुनिया की सारी दौलत और सारा ऐश खरीदने को भी तैयार न हो सकती थी। नहीं, अब रामदुलारी के भाग्य से अपने भाग्य का बदला न करेगी। वह अपने हाल में खुश है। रामदुलारी पर उसे दया आयी, जो भोग विलास की धुन और अमीर कहलाने के मोह में अपनी आत्मा का सर्वनाश कर रही है। मगर वह बेचारी भी क्या करे? और गुरुसेवक का भी क्या दोष है? जिस समाज में दौलत पुजती है, जहाँ मनुष्य का मोल उसके बैंक-एकाउण्ट और टीमटाम से आँका जाता है, जहाँ पग-पग पर प्रलोभनों का जाल बिछा हुआ है और समाज की कुव्यवस्था आदमी में ईर्ष्या-द्वेष अपहरण और नीचता के भावों को उकसाती और उभारती रहती है, गुरुसेवक और रामदुलारी उस जाल में फँस जायँ, उस प्रवाह में बह जायँ, तो कोई अचरज नहीं।

उसी वक्त उमानाथ ने कहा—गुरुसेवक यहाँ बैठा-बैठा क्या बहक रहा था? मैंने तो उसे विदा कर दिया। जी डरता था, कहीं पुलिस उसके पीछे न लगी हो। नहीं तो मैं भी गेहूँ के साथ घुन की तरह पिस जाऊँ।

रूपकुमारी ने क्षमा-प्रार्थी नेत्रों से उन्हें देखकर जवाब दिया—वह अपनी खुफियाफरोशी की डींग मार रहा था।

'मुझे भी मिसेज लोहिया से मिलने को कह गया है।'

'जी नहीं, आप अपनी क्लर्की किये जाइए। इसी में हमारा कल्याण है।'

'मगर क्लर्की में वह ऐश कहाँ? क्यों न साल-भर की छुट्टी लेकर जरा उस दुनिया की भी सैर करूँ?'

'मुझे अब उस ऐश का मोह नहीं रहा।'

'दिल से कहती हो?

'सच्चे दिल से।'

उमानाथ एक मिनट तक चुप रहने के बाद फिर बोले—मैं आकर तुमसे यह वृत्तान्त कहता तो तुम्हें विश्वास आता या नहीं, सच कहना?

'कभी नहीं। मैं तो कल्पना ही नहीं कर सकती कि अपने स्वार्थ के लिए कोई आदमी दुनिया को विष खिला सकता है।'

'मुझे सारा हाल पुलिस के सब-इंसपेक्टर से मालूम हो गया था। मैंने उसे खूब शराब पिला दी थी कि नशे में बहकेगा जरूर और सब कुछ खुद उगल देगा।

'ललचाता तो तुम्हारा जी भी था।'

'हाँ, ललचाता तो था, और अब भी ललचा रहा है। मगर ऐश करने के लिए जिस हुनर की जरूरत है, वह कहाँ से लाऊँगा?'

'ईश्वर न करे, वह हुनर तुममें आवे। मुझे तो उस बेचारे पर तरस आता है। मालूम नहीं, खैरियत से घर पहुँच गया या नहीं।'

'उसकी कार थी। कोई चिन्ता नहीं।'

रूपकुमारी एक क्षण जमीन की तरफ ताकती रही। फिर बोली—तुम मुझे दुलारी के घर पहुँचा दो। अभी शायद मैं उसकी कुछ मदद कर सकूँ। जिस बाग की वह सैर कर रही है, उसके चारों तरफ निशाचर घात लगाये बैठे हैं। शायद मैं उसे बचा सकूँ।

उमानाथ ने देखा, उसकी छवि कितनी दया-पुलकित हो उठी है।

महातीर्थ

१

मुंशी इन्द्रमणि की आमदनी कम थी और खर्च ज्यादा। अपने बच्चे के लिए दाई रखने का खर्च न उठा सकते थे; लेकिन एक तो बच्चे की सेवा-शुश्रूषा की फिक्र और दूसरे अपने बराबर वालों से हेठे बनकर रहने का अपमान, इस खर्च को सहने पर मजबूर करता था। बच्चा दाई को बहुत चाहता था, हरदम उसके गले का हार बना रहता था, इसलिए दाई और भी जरूरी मालूम होती थी। पर शायद सबसे बड़ा कारण यह था कि वह मुरौवत के वश दाई को जवाब देने का साहस नहीं कर सकते थे। बुढ़िया उनके यहाँ तीन साल से नौकर थी। उसने उनके एकलौते लड़के का लालन-पालन किया था। अपना काम बड़ी मुस्तैदी और परिश्रम से करती थी। उसे निकालने का कोई बहाना नहीं था और व्यर्थ खुचड़ निकालना इन्द्रमणि-जैसे भले आदमी के स्वभाव के विरुद्ध था। पर सुखदा इस सम्बन्ध में अपने पति से सहमत न थी। उसे सन्देह था कि दाई हमें लूटे लेती है। जब दाई बाजार से लौटती तो वह दालान में छिपी रहती कि देखूँ, आटा कहीं छिपाकर तो नहीं रख देती, लकड़ी तो नहीं छिपा देती। उसकी लायी हुई चीजों को घण्टों देखती, पूछ-ताछ करती। बार-बार पूछती, इतना ही क्यों? क्या भाव है? क्या इतना महँगा हो गया? दाई कभी तो इन सन्देहात्मक प्रश्नों का उत्तर नम्रतापूर्वक देती, किन्तु जब कभी बहूजी ज्यादा तेज हो जातीं तो वह भी कड़ी पड़ जाती थी। शपथें खाती। सफाई की शहादतें पेश करती। वाद-विवाद में घण्टों लग जाते। प्रायः नित्य यही दशा रहती थी और प्रतिदिन यह नाटक दाई के अश्रुपात के साथ समाप्त होता था। दाई का इतनी सख्तियाँ झेलकर पड़े रहना सुखदा के सन्देह को और भी पुष्ट करता था। उसे कभी विश्वास नहीं होता था कि यह बुढ़िया केवल बच्चे के प्रेमवश पड़ी हुई है। वह बुढ़िया को इतनी बाल-प्रेमशीला नहीं समझती थी।

२

२

संयोग से एक दिन दाई को बाजार से लौटने में जरा देर हो गयी। वहाँ दो कुँजड़िनों में देवासुर-संग्राम मचा था। उनका चित्रमय हाव-भाव, उनका आग्नेय तर्क वितर्क, उनके कटाक्ष और व्यंग सब अनुपम थे। विष के दो नद थे या ज्वाला के दो पर्वत, जो दोनों तरफ से उमड़कर आपस में टकरा गये थे। वाक्य क्या प्रवाह था, कैसी विचित्र विवेचना! उनका शब्द-बाहुल्य, उनकी मार्मिक विचारशीलता, अनेक अलकृत शब्द-विन्यास और उनकी उपमाओं की नवीनता पर ऐसा कौन-सा कवि है, जो मुग्ध न हो जाता। उनका धैर्य, उनकी शान्ति विस्मयजनक थी। दर्शकों की एक खासी भीड़ थी। वह लाज को भी लज्जित करनेवाले इशारे, वे अश्लील शब्द जिनसे मलिनता के भी कान खड़े होते, सहस्रों रसिकजनों के लिए मनोरंजन की सामग्री बने हुए थे!

दाई भी खड़ी हो गयी कि देखूँ, क्या मामला है। तमाशा इतना मनोरंजक था कि उसे समय का बिलकुल ध्यान न रहा। एकाएक जब नौ के घंटे की आवाज कान में आयी तो चौंक पड़ी और लपकी हुई घर की ओर चली।

सुखदा भरी बैठी थी। दाई को देखते ही त्योरी बदलकर बोली—क्या बाजार में खो गयी थी?

दाई विनयपूर्ण भाव से बोली—एक जान-पहचान की महरी से भेंट हो गयी। वह बातें करने लगी।

सुखदा इस जवाब से और भी चिढ़कर बोली—यहाँ दफ्तर जाने को देर हो रही है और तुम्हें सैर-सपाटे की सूझती है।

परन्तु दाई ने इस समय दबने में ही कुशल समझी, बच्चे को गोद में लेने चली; पर सुखदा ने झिड़ककर कहा—रहने दो, तुम्हारे बिना वह व्याकुल नहीं हुआ जाता।

दाई ने इस आज्ञा को मानना आवश्यक नहीं समझा। बहूजी का क्रोध ठंढा करने के लिए इससे उपयोगी और कोई उपाय न सूझा। उसने रुद्रमणि को इशारे से अपने पास बुलाया। वह दोनों हाथ फैलाये लड़खड़ाता हुआ उसकी ओर चला। दाई ने उसे गोद में उठा लिया और दरवाजे की तरफ चली। लेकिन सुखदा बाज की तरह झपटी और रुद्र को उसकी गोदी से छीनकर

बोली—तुम्हारी यह धूर्तता बहुत दिनों से देख रही हूँ। यह तमाशे किसी और को दिखाइए! यहाँ जी भर गया।

दाई रुद्र पर जान देती थी और समझती थी कि सुखदा इस बात को जानती है। उसकी समझ में सुखदा और उसके बीच यह ऐसा मजबूत सम्बन्ध था जिसे साधारण झटके तोड़ न सकते थे। यही कारण था कि सुखदा के कटु-वचनों को सुनकर भी उसे यह विश्वास न होता था कि वह मुझे निकालने पर प्रस्तुत है; पर सुखदा ने ये बातें कुछ ऐसी कठोरता से कहीं और रुद्र को ऐसी निर्दयता से छीन लिया कि दाई से सह्य न हो सका। बोली—बहूजी, मुझसे कोई बड़ा अपराध तो नहीं हुआ, बहुत तो पाव-घण्टे की देर हुई होगी। इस-पर आप इतना बिगड़ रही हैं, तो साफ क्यों नहीं कह देती कि दूसरा दरवाजा देखो। नारायण ने पैदा किया है तो खाने को भी देगा। मजदूरी का अकाल थोड़े ही है!

सुखदा ने कहा—तो यहाँ तुम्हारी परवाह ही कौन करता है। तुम्हारी-जैसी लौंडिनें गली-गली ठोकरें खाती फिरती हैं।

दाई ने जवाब दिया—हाँ, नारायण आपको कुशल से रखें। लौंडिनें और दाइयाँ आपको बहुत मिलेंगी। मुझसे जो कुछ अपराध हुआ हो, क्षमा कीजिएगा। मैं जाती हूँ।

सुखदा—जाकर मरदाने में अपना हिसाब साफ कर लो।

दाई—मेरी तरफ से रुद्र बाबू को मिठाइयाँ मँगवा दीजिएगा। इतने में इन्दमणि भी बाहर से आ गये। पूछा—क्या है, क्या?

दाई ने कहा—कुछ नहीं। बहूजी ने जवाब दे दिया है, घर जाती हूँ।

इन्द्रमणि गृहस्थी के जंजाल से इस तरह बचते थे जैसे कोई नंगे पैरवाला मनुष्य काँटों से बचे। उन्हें सारे दिन एक ही जगह खड़े रहना मंजूर था; पर काँटों में पैर रखने की हिम्मत न थी। खिन्न होकर बोले—बात क्या हुई?

सुखदा ने कहा—कुछ नहीं। अपनी इच्छा। नहीं जी चाहता, नहीं रखते। किसी के हाथों बिक तो नहीं गये।

इन्द्रमणि ने झुँझलाकर कहा—तुम्हें बैठे-बैठाये एक-न-एक खुचड़ सूझती ही रहती है।

सुखदा ने तिनककर कहा—हाँ, मुझे तो इसका रोग है। क्या करूँ, स्वभाव ही ऐसा है। तुम्हें यह बहुत प्यारी है तो ले जाकर गले में बाँध लो, मेरे यहाँ जरूरत नहीं है।

३

दाई घर से निकली तो आँखें डबडबाई हुई थीं। हृदय रुद्रमणि के लिए तड़प रहा था। जी चाहता था कि एक बार बालक को लेकर प्यार कर लूँ, पर यह अभिलाषा लिये ही उसे घर से बाहर निकलना पड़ा।

रुद्रमणि दाई के पीछे-पीछे दरवाजे तक आया; पर दाई ने जब दरवाजा बाहर से बन्द कर दिया, तो वह मचलकर जमीन पर लोट गया और अन्ना-अन्ना कहकर रोने लगा। सुखदा ने चुमकारा, प्यार किया, गोद में लेने की कोशिश की, मिठाई देने का लालच दिया, मेला दिखाने का वादा किया। इससे जब काम न चला तो बन्दर, सिपाही, लूलू और हौआ की धमकी दी। पर रुद्र ने वह रौद्र भाव धारण किया कि किसी तरह चुप न हुआ। यहाँ तक कि सुखदा को क्रोध आ गया, बच्चे को वहीं छोड़ दिया और आकर घर के धंधे मे लग गई। रोते-रोते रुद्र का मुँह और गाल लाल हो गये, आँखें सूज गयीं। निदान वह वहीं जमीन पर सिसकते-सिसकते सो गया।

सुखदा ने समझा था कि बच्चा थोड़ी देर में रो-धोकर चुप हो जायगा; पर रुद्र ने जागते ही अन्ना की रट लगायी। तीन बजे इन्द्रमणि दफ्तर से आये और बच्चे की यह दशा देखी, तो स्त्री की तरफ कुपित नेत्रों से देखकर उसे गोद में उठा लिया और बहलाने लगे। जब अन्त में रुद्र को यह विश्वास हो गया कि दाई मिठाई लेने गयी है, तो उसे सन्तोष हुआ।

परन्तु शाम होते ही उसने फिर झींखना शुरू किया—अन्ना, मिठाई ला।

इस तरह दो-तीन दिन बीत गये। रुद्र को अन्ना की रट लगाने और रोने के सिवा और कोई काम न था। वह शान्त प्रकृति कुत्ता, जो उसकी गोद से एक क्षण के लिए भी न उतरता था, वह मौन व्रतधारी बिल्ली जिसे ताख पर देखकर वह खुशी से फूला न समाता था, पंखहीन वह चिड़िया जिसपर वह जान देता था, सब उसके चित्त से उतर गये। वह उनकी तरफ आँख उठाकर भी नहीं देखता। अन्ना-जैसी जीती-जागती, प्यार करनेवाली, गोद में लेकर घुमाने-

आली, थपक-थपककर सुलानेवाली, गा-गाकर खुश करनेवाली चीज का स्थान इन निर्जीव चीजों से पूरा न हो सकता था। वह अकसर सोते-सोते चौंक पड़ता और अन्ना-अन्ना पुकारकर हाथों से इशारा करता, मानो उसे बुला रहा है। अन्ना की खाली कोठरी में घण्टों बैठा रहता। उसे आशा होती कि अन्ना यहाँ आती होगी। इस कोठरी का दरवाजा खुलते सुनता, तो "अन्ना", "अन्ना!" कहकर दौड़ता। समझता कि अन्ना आ गयी। उसका भरा हुआ शरीर घुल गया, गुलाब-जैसा चेहरा सूख गया, माँ और बाप उसकी मोहिनी हँसी के लिए तरसकर रह जाते थे। यदि बहुत गुदगुदाने या छेड़ने से हँसता भी, तो ऐसा जान पड़ता था कि दिल में नहीं हँसता, केवल दिल रखने के लिए हँस रहा है। उसे अब दूध से प्रेम नहीं था, न मिश्री से, न मेवे से, न मीठे बिस्कुट से, न ताजी इमरतियों से। उनमें मजा तब था जब अन्ना अपने हाथों से खिलाती थी। अब उनमें मजा नहीं था। दो साल का लहलहाता हुआ सुन्दर पौधा मुर्झा गया। वह बालक, जिसे गोद में उठाते ही नरमी, गरमी और भारीपन का अनुभव होता था, अब सूखकर काँटा होगया था। सुखदा अपने बच्चे की यह दशा देखकर भीतर-ही-भीतर कुढ़ती और अपनी मूर्खता पर पछताती। इन्द्रमणि, जो शान्ति-प्रिय आदमी थे, अब बालक को गोद से अलग न करते थे, उसे रोज साथ हवा खिलाने ले जाते थे, नित्य नये खिलौने लाते थे। पर वह मुर्झाया हुआ पौधा किसी तरह भी न पनपता था। दाई उसके लिए संसार का सूर्य थी। उस स्वाभाविक गर्मी और प्रकाश से वंचित रहकर हरियाली की बहार कैसे दिखाता? दाई के बिना उसे अब चारों ओर अँधेरा और सन्नाटा दिखायी देता था। दूसरी अन्ना तीसरे ही दिन रख ली गयी थी; पर रुद्र उसकी सूरत देखते ही मुँह छिपा लेता था, मानो वह कोई डाइन या चुड़ैल है।

प्रत्यक्ष रूप में दाई को न देखकर रुद्र अब उसकी कल्पना में मग्न रहता। वहाँ उसकी अन्ना चलती-फिरती दिखायी देती थी। उसके वही गोद थी, वही स्नेह, वही प्यारी-प्यारी बातें, वही प्यारे गाने, वही मजेदार मिठाइयाँ, वही सुहाना संसार, वही आनन्दमय जीवन! अकेले बैठकर कल्पित अन्ना से बातें करता, अन्ना, कुत्ता भूँके। अन्ना, गाय दूध देती। अन्ना, उजला-उजला घोड़ा दौड़े। सबेरा होते ही लोटा लेकर दाई की कोठरी में जाता और कहता—अन्ना, पानी।

दूध का गिलास लेकर उसकी कोठरी में रख आता और कहता—अन्ना, दूध पिला। अपनी चारपाई पर तकिया रखकर चादर से ढाँक देता और कहता—अन्ना, सोती है ? सुखदा जब खाने बैठती तो कटोरे उठा-उठाकर अन्ना की कोठरी में ले जाता और कहता—अन्ना, खाना खायगी ? अन्ना अब उसके लिए एक स्वर्ग की वस्तु थी, जिसके लौटने की अब उसे बिलकुल आशा न थी। रुद्र के स्वभाव में धीरे-धीरे बालकों की चपलता और सजीवता की जगह एक निराशाजनक धैर्य, एक आनन्दविहीन शिथिलता दिखायी देने लगी। इस तरह तीन हफ्ते गुजर गये। बरसात का मौसिम था। कभी बेचैन करनेवाली गर्मी, कभी हवा के ठंढे झोंके। बुखार और जोकाम का जोर था। रुद्र की दुर्बलता इस ऋतु-परिवर्तन को बर्दाश्त न कर सकी। सुखदा उसे फलालैन का कुर्ता पहनाये रखती थी। उसे पानी के पास नहीं जाने देती। नंगे-पैर एक कदम नहीं चलने देती; पर सर्दी लग ही गयी। रुद्र को खाँसी और बुखार आने लगा।

४

प्रभात का समय था। रुद्र चारपाई पर आँखें बन्द किये पड़ा था। डाक्टरों का इलाज निष्फल हुआ। सुखदा चारपाई पर बैठी उसकी छाती में तेल की मालिश कर रही थी और इन्द्रमणि विषाद-मूर्त्ति बने हुए करुणापूर्ण आँखों से बच्चे को देख रहे थे। इधर सुखदा से वह बहुत कम बोलते थे। उन्हें उससे एक तरह की घृणा-सी हो गयी थी। वह रुद्र की इस बीमारी का एकमात्र कारण उसी को समझते थे। वह उनकी दृष्टि में बहुत नीच स्वभाव की स्त्री थी। सुखदा ने डरते-डरते कहा—आज बड़े हकीम साहब को बुला लेते। शायद उनकी दवा से फायदा हो।

इन्द्रमणि ने काली घटाओं की ओर देखकर रुखाई से जवाब दिया—बड़े हकीम नहीं यदि धन्वन्तरि भी आवें, तो भी उसे कोई फायदा न होगा।

सुखदा ने कहा—तो क्या अब किसी की दवा ही न होगी ?

इन्द्रमणि—बस, इसकी एक ही दवा है और वह अलभ्य है।

सुखदा—तुम्हें तो बस, वही धुन सवार है। क्या बुढ़िया आकर अमृत पिला देगी ?

इन्द्रमणि—वह तुम्हारे लिए चाहे विष हो ; पर लड़के के लिए अमृत ही होगी।

सुखदा—मैं नहीं समझती कि ईश्वरेच्छा उसके अधीन है।

इन्द्रमणि—यदि नहीं समझती हो और अबतक नहीं समझी, तो रोओगी। बच्चे से हाथ धोना पड़ेगा।

सुखदा—चुप भी रहो, क्या अशुभ मुँह से निकालते हो? यदि ऐसी ही जली-कटी सुनाना है, तो बाहर चले जाओ।

इन्द्रमणि—तो मैं जाता हूँ ; पर याद रखो, यह हत्या तुम्हारी ही गर्दन पर होगी। यदि लड़के को तन्दुरुस्त देखना चाहती हो, तो उसी दाई के पास जाओ, उससे विनती और प्रार्थना करो, क्षमा माँगो। तुम्हारे बच्चे की जान उसीकी दया के अधीन है।

सुखदा ने कुछ उत्तर नहीं दिया। उसकी आँखों से आँसू जारी था।

इन्द्रमणि ने पूछा—क्या मर्जी है, जाऊँ, उसे बुला लाऊँ?

सुखदा—तुम क्यों जाओगे, मैं आप चली जाऊँगी।

इन्द्रमणि—नहीं, क्षमा करो। मुझे तुम्हारे ऊपर विश्वास नहीं है। न-जाने तुम्हारी जबान से क्या निकल पड़े कि जो वह आती भी हो, तो न आवे।

सुखदा ने पति की ओर फिर तिरस्कार की दृष्टि से देखा और बोली—हाँ, और क्या, मुझे अपने बच्चे की बीमारी का शोक थोड़े ही है। मैंने लाज के मारे तुमसे कहा नहीं ; पर मेरे हृदय में यह बात बार-बार उठी है। यदि मुझे दाई के मकान का पता मालूम होता, तो मैं कभी उसे मना लायी होती। वह मुझसे कितनी ही नाराज हो ; पर रुद्र से उसे प्रेम था। मैं आज ही उसके पास जाऊँगी। तुम विनती करने को कहते हो, मैं उसके पैरों पड़ने के लिए तैयार हूँ। उसके पैरों को आँसुओं से भिगोऊँगी और जिस तरह राजी होगी, राजी करूँगी।

सुखदा ने बहुत धैर्य धरकर यह बातें कहीं ; परन्तु उमड़े हुए आँसू अब न रुक सके। इन्द्रमणि ने स्त्री की ओर सहानुभूतिपूर्वक देखा और लज्जित होकर बोले—मैं तुम्हारा जाना उचित नहीं समझता, मैं खुद ही जाता हूँ।

५

कैलासी संसार में अकेली थी। किसी समय उसका परिवार गुलाब की तरह फूला हुआ था ; परन्तु धीरे-धीरे उसकी सब पत्तियाँ गिर गयीं। उसकी सब हरियाली नष्ट-भ्रष्ट हो गयी और अब वही एक सूखी हुई टहनी उस हरे-भरे पेड़ का चिह्न रह गयी थी।

परन्तु रुद्र को पाकर इस सूखी हुई टहनी में जान पड़ गयी थी। इसमें हरी-हरी पत्तियाँ निकल आयी थीं। वह जीवन, जो अबतक नीरस और शुष्क था, अब सरस और सजीव होगया था। अन्धेरे जंगल में भटके हुए पथिक को प्रकाश की झलक आने लगी थी। अब उसका जीवन निरर्थक नहीं; बल्कि सार्थक होगया था।

कैलासी रुद्र की भोली-भाली बातों पर निछावर हो गयी ; पर वह अपना स्नेह सुखदा से छिपाती थी। इसलिए कि माँ के हृदय में द्वेष न हो। वह रुद्र के लिए माँ से छिपकर मिठाइयाँ लाती और उसे खिलाकर प्रसन्न होती। वह दिन में दो-तीन बार उसे उबटन मलती कि बच्चा खूब पुष्ट हो। वह दूसरों के सामने उसे कोई चीज नहीं खिलाती कि उसे नजर लग जायगी। सदा वह दूसरों से बच्चे के अल्पाहार का रोना रोया करती थी। उसे बुरी नजर से बचाने के लिए ताबीज और गंडे लाती रहती। यह उसका विशुद्ध प्रेम था। उसमें स्वार्थ की गंध भी न थी।

इस घर से निकलकर आज कैलासी की वह दशा थी, जो थियेटर में एकाएक बिजली के लैम्पों के बुझ जाने से दर्शकों की होती है। उसके सामने वही सूरत नाच रही थी। कानों में वही प्यारी-प्यारी बातें गूँज रही थीं। उसे अपना घर काटे खाता था। उस काल-कोठरी में दम घुटा जाता था।

रात ज्यों-त्योंकर कटी। सुबह को वह घर में झाड़ू लगा रही थी। एकाएक बाहर ताजे हलुवे की आवाज सुनकर बड़ी फुर्ती से घर से बाहर निकल आयी। तब तक याद आ गया, आज हलुवा कौन खायेगा? आज गोद में बैठकर कौन चहकेगा? वह माधुरी गान सुनने के लिए जो हलुवा खाते समय रुद्र की आँखों से, होठों से और शरीर के एक-एक अंग से बरसता था, कैलासी का हृदय तड़प गया। वह व्याकुल होकर घर से निकली कि चलूँ रुद्र को देख आऊँ ; पर आधे रास्ते से लौट आयी।

रुद्र कैलासी के ध्यान से एक क्षण-भर के लिए नहीं उतरता था। वह सोते-सोते चौंक पड़ती, जान पड़ता कि रुद्र डंडे का घोड़ा दबाये चला आता है। पड़ोसिनों के पास जाती, तो रुद्र ही की चर्चा करती। रुद्र उसके दिल में बसा हुआ था। सुखदा के कठोरतापूर्ण कुव्यवहार का उसके हृदय में ध्यान नहीं था। वह रोज इरादा करती थी कि आज रुद्र को देखने चलूँगी। उसके लिए बाजार से मिठाइयाँ और खिलौने लाती। घर से चलती, पर रास्ते से लौट आती। कभी दो-चार कदम से आगे नहीं बढ़ा जाता था। कौन मुँह लेकर जाऊँ? जो प्रेम को धूर्तता समझता हो, उसे कौन-सा मुँह दिखाऊँ? कभी सोचती, यदि रुद्र हमें न पहचाने तो? बच्चों के प्रेम का ठिकाना ही क्या? नयी दाई से हिल-मिल गया होगा। यह खयाल उसके पैरों पर जंजीर का काम कर जाता था।

इस तरह दो हफ्ते बीत गये। कैलासी का जी उचाट रहता, जैसे उसे कोई लम्बी यात्रा करनी हो। घर की चीजें जहाँ-की-तहाँ पड़ी रहतीं, न खाने की सुधि थी, न कपड़े की। रात-दिन रुद्र ही के ध्यान में डूबी रहती थी। संयोग से इन्हीं दिनों बद्रीनाथ की यात्रा का समय आ गया। महल्ले के कुछ लोग यात्रा की तैयारियाँ करने लगे। कैलासी की दशा इस समय उस पालतू चिड़िया की-सी थी, जो पिंजड़े से निकलकर फिर किसी कोने की खोज में हो। उसे विस्मृति का यह अच्छा अवसर मिल गया। यात्रा के लिए तैयार होगयी।

६

आसमान पर काली घटाएँ छायी हुई थीं और हलकी-हलकी फुहारें पड़ रही थीं। देहली स्टेशन पर यात्रियों की भीड़ थी। कुछ गाड़ियों पर बैठे थे, कुछ अपने घरवालों से बिदा हो रहे थे। चारों तरफ एक हलचल-सी मची थी। संसार-माया आज भी उन्हें जकड़े हुए थी। कोई स्त्री को सावधान कर रहा था कि धान कट जाय, तो तालाबवाले खेत में मटर बो देना और बाग के पास गेहूँ। कोई अपने जवान लड़के को समझा रहा था—असामियों पर बकाया लगान की नालिश करने में देर न करना और दो रुपये सैकड़ा सूद जरूर काट लेना। एक बूढ़े व्यापारी महाशय अपने मुनीब से कह रहे थे कि माल आने में देर हो, तो खुद चले जाइएगा और चलतू माल लीजिएगा, नहीं तो रुपया फँस जायगा। पर कोई-कोई ऐसे श्रद्धालु मनुष्य भी थे, जो धर्म-मग्न दिखायी देते थे। वे या

तो चुपचाप आसमान की ओर निहार रहे थे, या माला फेरने में तल्लीन थे। कैलासी भी एक गाड़ी में बैठी सोच रही थी—इन भले आदमियों को अब भी संसार की चिन्ता नहीं छोड़ती। वही बनिज-व्यापार, लेन-देन की चर्चा। रुद्र इस समय यहाँ होता, तो बहुत रोता; मेरी गोद से कभी भी न उतरता। लौटकर उसे अवश्य देखने जाऊँगी। या ईश्वर, किसी तरह गाड़ी चले! गर्मी के मारे जी व्याकुल हो रहा है। इतनी घटा उमड़ी हुई है; किन्तु बरसाने का नाम नहीं लेती। मालूम नहीं, यह रेलवाले क्यों देर कर रहे हैं। झूठ-मूठ इधर-उधर दौड़ते फिरते हैं। यह नहीं कि झटपट गाड़ी खोल दें। यात्रियोंकी जान में जान आये। एकाएक उसने इन्द्रमणि को बाइसिकिल लिये प्लैटफार्म पर आते देखा। उनका चेहरा उतरा हुआ था और कपड़े पसीनों से तर थे। वह गाड़ियों में झाँकने लगे। कैलासी केवल यह जताने के लिए, कि मैं भी यात्रा करने जा रही हूँ, गाड़ी से बाहर निकल आयी। इन्द्रमणि उसे देखते ही लपककर करीब आ गये और बोले—क्यों कैलासी, तुम भी यात्रा को चलीं?

कैलासी ने सगर्व दीनता से उत्तर दिया—हाँ, यहाँ क्या करूँ? जिन्दगी का कोई ठिकाना नहीं। मालूम नहीं, कब आँखें बन्द हो जायँ। परमात्मा के यहाँ मुँह दिखाने का भी तो कोई उपाय होना चाहिए। रुद्र बाबू तो अच्छी तरह हैं?

इन्द्रमणि—अब तो जा ही रही हो। रुद्र का हाल पूछकर क्या करोगी? उसे आशीर्वाद देती रहना।

कैलासी की छाती धड़कने लगी। घबराकर बोली—क्या उनका जी अच्छा नहीं है क्या?

इन्द्रमणि—वह तो उसी दिन से बीमार है, जिस दिन तुम वहाँ से निकलीं। दो हफ्ते तक तो उसने अन्ना-अन्ना की रट लगायी। अब एक हफ्ते से खाँसी और बुखार में पड़ा है। सारी दवाइयाँ करके हार गया, कुछ फायदा नहीं हुआ। मैंने सोचा था कि चलकर तुम्हारी अनुनय-विनय करके लिवा लाऊँगा। क्या जाने तुम्हें देखकर उसकी तबीयत सँभल जाय; पर तुम्हारे घर पर आया, तो मालूम हुआ कि तुम यात्रा करने जा रही हो। अब किस मुँह से चलने को कहूँ? तुम्हारे साथ सलूक ही कौन-सा अच्छा किया, जो इतना साहस करूँ। फिर पुण्य-कार्य में विघ्न डालने का भी डर है। जाओ, उसका ईश्वर मालिक

है। आयु शेष है, तो बच ही जायगा। अन्यथा ईश्वरी-गति में किसीका क्या वश।

कैलासी की आँखों के सामने अँधेरा छा गया। सामने की चीजें तैरती हुई मालूम होने लगीं। हृदय भावी अशुभ की आशङ्का से दहल गया। हृदय से निकल पड़ा—या ईश्वर, मेरे रुद्र का बाल बाँका न हो! प्रेम से गला भर आया। विचार किया कि मैं कैसी कठोर-हृदया हूँ। प्यारा बच्चा रो-रोकर हलकान होगया और मैं उसे देखने तक नहीं गयी। सुखदा का स्वभाव अच्छा नहीं, न सही; किन्तु रुद्र ने मेरा क्या बिगाड़ा था कि मैंने माँ का बदला बेटे से लिया। ईश्वर मेरा अपराध क्षमा करे! प्यारा रुद्र मेरे लिए हुड़क रहा है। (इस ख्याल से कैलासी का कलेजा मसोस उठा था और आँखों में आँसू बह निकले थे।) मुझे क्या मालूम था कि उसे मुझसे इतना प्रेम है। नहीं मालूम, बच्चे की क्या दशा है। भयातुर हो बोली—दूध तो पीते हैं न?

इन्द्रमणि—तुम दूध पीने को कहती हो, उसने दो दिन से आँखें तक नहीं खोलीं।

कैलासी—या मेरे परमात्मा! अरे ओ कुली, कुली! बेटा, आकर मेरा सामान गाड़ी से उतार दे। अब मुझे तीरथ जाना नहीं सूझता। हाँ बेटा, जल्दी कर; बाबूजी, देखो कोई एक्का हो, तो ठीक कर लो।

एक्का रवाना हुआ। सामने सड़क पर बग्घियाँ खड़ी थीं। घोड़ा धीरे-धीरे चल रहा था। कैलासी बार-बार झुँझलाती थी और एक्कावान से कहती थी—बेटा! जल्दी कर। मैं तुझे कुछ ज्यादे दे दूँगी। रास्ते में मुसाफिरों की भीड़ देखकर उसे क्रोध आता था। उसका जी चाहता था कि घोड़े के पर लग जाते; लेकिन इन्द्रमणि का मकान करीब आ गया, तो कैलासी का हृदय उछलने लगा। बार-बार हृदय से रुद्र के लिए शुभ आशीर्वाद निकलने लगा। ईश्वर करें, सब कुशल-मंगल हो। एक्का इन्द्रमणि की गली की ओर मुड़ा। अकस्मात् कैलासी के कान में रोने की ध्वनि पड़ी। कलेजा मुँह को आ गया। सिर में चक्कर आ गया। मालूम हुआ, नदी में डूबी जाती हूँ। जी चाहा कि एक्के पर से कूद पड़े; पर थोड़ी ही देर में मालूम हुआ कि कोई स्त्री मैके से बिदा हो रही है। सन्तोष हुआ। अन्त में इन्द्रमणि का मकान आ पहुँचा। कैलासी ने डरते-डरते दरवाजे की

तरफ ताका, जैसे कोई घर से भागा हुआ अनाथ लड़का शाम को भूखा-प्यासा घर आये और दरवाजे की ओर सटकी हुई आँखों से देखे कि कोई बैठा तो नहीं है। दरवाजे पर सन्नाटा छाया हुआ था। महाराज बैठा सुरती मल रहा था। कैलासी को जरा ढाढ़स हुआ। घर में बैठी, तो नयी दाई पुलटिस पका रही थी। हृदय में बल का सञ्चार हुआ। सुखदा के कमरे में गयी, तो उसका हृदय गर्मी के मध्याह्न-काल के सदृश काँप रहा था। सुखदा रुद्र को गोद में लिये दरवाजे की ओर एकटक ताक रही थी। शोक और करुणा की मूर्ति बनी थी।

कैलासी ने सुखदा से कुछ नहीं पूछा। रुद्र को उसकी गोद से ले लिया और उसकी तरफ सजल नयनों से देखकर कहा—बेटा रुद्र, आँखें खोलो।

रुद्र ने आँखें खोलीं। क्षण-भर दाई को चुपचाप देखता रहा। तब एकाएक दाई के गले से लिपटकर बोला—अन्ना आयी! अन्ना आयी!!

रुद्र का मुरझाया हुआ पीला चेहरा खिल उठा, जैसे बुझते हुए दीपक में तेल पड़ जाय। ऐसा मालूम हुआ मानो वह कुछ बढ़ गया।

एक हफ्ता बीत गया। प्रातःकाल का समय था। रुद्र आँगन में खेल रहा था। इन्द्रमणि ने बाहर से आकर उसे गोद में उठा लिया और प्यार से बोले—तुम्हारी अन्ना को मारकर भगा दें?

रुद्र ने मुँह बनाकर कहा—नहीं, रोयेगी।

कैलासी बोली—क्यों बेटा, तुमने तो मुझे बद्रीनाथ नहीं जाने दिया। मेरी यात्रा का पुण्य-फल कौन देगा?

इन्द्रमणि ने मुसकराकर कहा—तुम्हें उनसे कहीं अधिक पुण्य होगया। यह तीर्थ—

महातीर्थ है।

विस्मृति

१

चित्रकूट के सन्निकट धनगढ़ नामी एक गाँव है। कुछ दिन हुए, वहाँ शानसिंह और गुमानसिंह दो भाई रहते थे। ये जाति के ठाकुर (क्षत्री) थे। युद्धस्थल में वीरता के कारण उनके पूर्वजों को भूमि का एक भाग मुआफी प्राप्त हुआ था। खेती करते थे, भैंसें पाल रक्खी थीं, घी बेचते थे, मट्ठा खाते थे और प्रसन्नतापूर्वक समय व्यतीत करते थे। उनकी एक बहिन थी, जिसका नाम दूजी था। यथा नाम तथा गुण। दोनों भाई परिश्रमी और अत्यन्त साहसी थे। बहन अत्यन्त कोमल, सुकुमारी ; सिर पर घड़ा रखकर चलती, तो उसकी कमर बल खाती थी ; किन्तु तीनों अभी तक कुँआरे थे। प्रकटतः उन्हें विवाह की कुछ चिन्ता न थी। बड़े भाई शानसिंह सोचते—छोटे भाई के रहते हुए अब मैं अपना विवाह कैसे करूँ। छोटे भाई गुमानसिंह लज्जावश अपनी अभिलाषा प्रकट न करते थे कि बड़े भाई से पहले मैं अपना ब्याह कर लूँ! वे लोगों से कहा करते थे—भाई, हम बड़े आनन्द में हैं, आनन्द-पूर्वक भोजन कर, मीठी नींद सोते हैं। कौन यह झंझट सिर पर ले? किन्तु लग्न के दिनों में कोई नाई या ब्राह्मण गाँव में वर ढूँढ़ने आ जाता, तो उसकी सेवा-सत्कार में ये लोग कोई बात न उठा रखते थे। पुराने चावल निकाले जाते, पालतू बकरे देवी को भेंट होते और दूध की नदियाँ बहने लगती थीं। यहाँ तक कि कभी-कभी उनका भ्रातृ-स्नेह प्रतिद्वन्द्विता एवं द्वेषभाव के रूप में परिणत हो जाता था। इन दिनों में इनकी उदारता उमंग पर आ जाती थी और इससे लाभ उठानेवालों की भी कमी न थी। कितने ही नाई और ब्राह्मण ब्याह के असत्य समाचार लेकर उनके यहाँ आते और दो-चार दिन पूड़ी-कचौड़ी खा, कुछ बिदाई लेकर, वर-रक्षा (फलदान) भेजने का वादा करके अपने घर की राह लेते ; किन्तु दूसरे लग्न तक वह अपना दर्शन तक न देते थे। किसी-न-किसी कारण भाइयों का यह परिश्रम निष्फल हो जाता

था। अब कुछ आशा थी तो दूजी से। भाइयों ने यह निश्चय कर लिया था कि इसका विवाह वहीं पर किया जाय, जहाँ से एक बहू प्राप्त हो सके।

२

इसी बीच में गाँव का बूढ़ा कारिन्दा परलोक सिधारा। उसकी जगह पर एक नवयुवक ललनसिंह नियुक्त हुआ, जो अंगरेजी की शिक्षा पाये हुए, शौकीन, रंगीन और रसीला आदमी था। दो-चार ही दिनों में उसने पनघटों, तालाबों और झरोखों की देख-भाल भली-भाँति कर ली। अन्त में उसकी रसभरी दृष्टि दूजी पर पड़ी। उसकी सुकुमारता और रूप-लावण्य पर मुग्ध होगया। भाइयों से प्रेम और परस्पर मेल-जोल पैदा किया। कुछ विवाह-सम्बन्धी बातचीत छेड़ दी। यहाँ तक कि हुक्का-पानी भी साथ-साथ होने लगा। सायं-प्रातः इनके घर पर आया करता। भाइयों ने भी उसके आदर-सम्मान की सामग्रियाँ जमा कीं। पानदान मोल लाये, कालीन खरीदी। वह दरवाजे पर आता, तो दूजी तुरन्त पान के बीड़े बनाकर भेजती, बड़े भाई कालीन बिछा देते और छोटे भाई तश्तरी में मिठाइयाँ रखकर लाते। एक दिन श्रीमान् ने कहा—भैया शानसिंह, ईश्वर की कृपा हुई, तो अब की लग्न में भाभीजी आ जायँगी। मैंने सब बातें ठीक कर ली हैं। शानसिंह की बाछें खिल गयीं। अनुग्रहपूर्ण दृष्टि से देखकर कहा—मैं अब इस अवस्था में क्या ब्याह करूँगा। हाँ, गुमानसिंह की बातचीत कहीं ठीक हो जाती, तो पाप कट जाता।

गुमानसिंह ने ताड़ का पंखा उठा लिया और झलते हुए बोले—वाह भैया! कैसी बात कहते हो? ललनसिंह ने अकड़कर शानसिंह की ओर देखते हुए कहा—भाई साहब, क्या कहते हो? अबकी लग्न में दोनों भाभियाँ छमाछम करती हुई घर में आवें तो बात! मैं ऐसा कच्चा मामला नहीं रखता। तुम तो अभी से बुड्ढों की भाँति बातें करने लगे। तुम्हारी अवस्था यद्यपि पचास से भी अधिक होगयी; पर देखने में चालीस वर्ष से भी कम मालूम होती है। अब की दोनों विवाह होंगे, बीच खेत होंगे। यह तो बताओ, वस्त्राभूषण का समुचित प्रबन्ध है न? शान ने उनके जूतों को सीधा करते हुए कहा—भाई साहब, आपकी यदि ऐसी कृपा-दृष्टि है, तो सब कुछ हो जायगा। आखिर इतने दिन कमा-कमाकर क्या किया है? गुमानसिंह घर में गये, हुक्का ताजा किया, तम्बाकू

में दो-तीन बूँद इत्र के डाले, चिलम भरी, दूजी से कहा कि शरबत घोल दे, और हुक्का लेकर ललनसिंह के सामने रख दिया। ललनसिंह ने दो-चार दम लगाये और बोले—नाई दो-चार दिन में आनेवाला है। ऐसा घर चुना है कि चित्त प्रसन्न हो जाय, एक विधवा है। दो कन्याएँ एक-से-एक सुन्दर। विधवा दो-एक वर्ष में संसार को त्याग देगी और तुम सम्पूर्ण गाँव में दो आने के हिस्सेदार बन जाओगे। गाँववाले, जो अभी हँसी करते हैं, पीछे जल-जल मरेंगे। हाँ, भय इतना ही है कि कोई बुढ़िया के कान भर दे कि सारा बना-बनाया खेल बिगड़ जाय!

शानसिंह के चेहरे पर हवाइयाँ उड़ने लगीं। गुमानसिंह की मुख-कान्ति मलिन होगयी। बोले—अब तो आपकी ही आशा है। आपकी जैसी राय हो, किया जाय।

जब कोई पुरुष हमारे साथ अकारण मित्रता का व्यवहार करने लगे, तो हमको सोचना चाहिए कि इसमें उसका कोई स्वार्थ तो नहीं छिपा है। यदि हम अपने सीधेपन से इस भ्रम में पड़ जायँ कि कोई मनुष्य हमको केवल अनुगृहीत करने के लिए हमारी सहायता करने पर तत्पर है, तो हमें धोखा खाना पड़ेगा; किन्तु अपने स्वार्थ की धुन में ये मोटी-मोटी बातें भी हमारी निगाहों से छिप जाती हैं और छल अपने रँगे हुए भेष में आकर हमको सर्वदा के लिए परस्पर-व्यवहार का उपदेश दे देता है। शान और गुमान ने सोच-विचार से कुछ भी काम न लिया। और इधर ललनसिंह के फन्दे नित्यप्रति गाढ़े होते गये। मित्रता ने यहाँ तक पाँव पसारे कि भाइयों की अनुपस्थिति में भी वह बेधड़क घर में घुस जाते और आँगन में खड़े होकर छोटी बहन से पान-हुक्का माँगते। दूजी उन्हें देखते ही अति प्रसन्नता से पान बनाती। फिर आँखें मिलतीं, एक प्रेमाकांक्षा से बेचैन, दूसरी लज्जावश सकुची हुई। फिर मुसकराहट की झलक होठों पर आती। चितवनों की शीतलता कलियों को खिला देती। हृदय नेत्रों द्वारा बातें कर लेते।

इस प्रकार प्रेम-लिप्सा बढ़ती गयी। उस नेत्रालिंगन में, जो मनोभावों का बाह्यरूप था, उद्विग्नता और विकलता की दशा उत्पन्न हुई। वह दूजी, जिसे कभी मनिहारे और बिसाती की रुचिकर ध्वनि भी चौखट से बाहर न निकाल सकती थी, अब एक प्रेम-विह्वलता की दशा में प्रतीक्षा की मूर्ति बनी हुई घंटों दरवाजे

था। अब कुछ आशा थी तो दूजी से। भाइयों ने यह निश्चय कर लिया था कि इसका विवाह वहीं पर किया जाय, जहाँ से एक बहू प्राप्त हो सके।

२

इसी बीच में गाँव का बूढ़ा कारिन्दा परलोक सिधारा। उसकी जगह पर एक नवयुवक ललनसिंह नियुक्त हुआ, जो अंगरेजी की शिक्षा पाये हुए, शौकीन, रंगीन और रसीला आदमी था। दो-चार ही दिनों में उसने पनघटों, तालाबों और झरोखों की देख-भाल भली-भाँति कर ली। अन्त में उसकी रसभरी दृष्टि दूजी पर पड़ी। उसकी सुकुमारता और रूप-लावण्य पर मुग्ध होगया। भाइयों से प्रेम और परस्पर मेल-जोल पैदा किया। कुछ विवाह-सम्बन्धी बातचीत छेड़ दी। यहाँ तक कि हुक्का-पानी भी साथ-साथ होने लगा। सायं-प्रातः इनके घर पर आया करता। भाइयों ने भी उसके आदर-सम्मान की सामग्रियाँ जमा कीं। पानदान मोल लाये, कालीन खरीदी। वह दरवाजे पर आता, तो दूजी तुरन्त पान के बीड़े बनाकर भेजती, बड़े भाई कालीन बिछा देते और छोटे भाई तश्तरी में मिठाइयाँ रखकर लाते। एक दिन श्रीमान् ने कहा—भैया शानसिंह, ईश्वर की कृपा हुई, तो अब की लग्न में भाभीजी आ जायँगी। मैंने सब बातें ठीक कर ली हैं। शानसिंह की बाछें खिल गयीं। अनुग्रहपूर्ण दृष्टि से देखकर कहा—मैं अब इस अवस्था में क्या ब्याह करूँगा। हाँ, गुमानसिंह की बातचीत कहीं ठीक हो जाती, तो पाप कट जाता।

गुमानसिंह ने ताड़ का पंखा उठा लिया और झलते हुए बोले—वाह भैया! कैसी बात कहते हो? ललनसिंह ने अकड़कर शानसिंह की ओर देखते हुए कहा—भाई साहब, क्या कहते हो? अबकी लग्न में दोनों भाभियाँ छमाछम करती हुई घर में आवें तो बात! मैं ऐसा कच्चा मामला नहीं रखता। तुम तो अभी से बुड्ढों की भाँति बातें करने लगे। तुम्हारी अवस्था यद्यपि पचास से भी अधिक होगयी; पर देखने में चालीस वर्ष से भी कम मालूम होती है। अब की दोनों विवाह होंगे, बीच खेत होंगे। यह तो बताओ, वस्त्राभूषण का समुचित प्रबन्ध है न? शान ने उनके जूतों को सीधा करते हुए कहा—भाई साहब, आपकी यदि ऐसी कृपा-दृष्टि है, तो सब कुछ हो जायगा। आखिर इतने दिन कमा-कमाकर क्या किया है? गुमानसिंह घर में गये, हुक्का ताजा किया, तम्बाकू

में दो-तीन बूँद इत्र के डाले, चिलम भरी, दूजी से कहा कि शरबत घोल दे, और हुक्का लेकर ललनसिंह के सामने रख दिया। ललनसिंह ने दो-चार दम लगाये और बोले—नाई दो-चार दिन में आनेवाला है। ऐसा घर चुना है कि चित्त प्रसन्न हो जाय, एक विधवा है। दो कन्याएँ एक-से-एक सुन्दर। विधवा दो-एक वर्ष में संसार को त्याग देगी और तुम सम्पूर्ण गाँव में दो आने के हिस्से-दार बन जाओगे। गाँववाले, जो अभी हँसी करते हैं, पीछे जल-जल मरेंगे। हाँ, भय इतना ही है कि कोई बुढ़िया के कान भर दे कि सारा बना-बनाया खेल बिगड़ जाय!

शानसिंह के चेहरे पर हवाइयाँ उड़ने लगीं। गुमानसिंह की मुख-कान्ति मलिन होगयी। बोले—अब तो आपकी ही आशा है। आपकी जैसी राय हो, किया जाय।

जब कोई पुरुष हमारे साथ अकारण मित्रता का व्यवहार करने लगे, तो हमको सोचना चाहिए कि इसमें उसका कोई स्वार्थ तो नहीं छिपा है। यदि हम अपने सीधेपन से इस भ्रम में पड़ जायँ कि कोई मनुष्य हमको केवल अनुगृहीत करने के लिए हमारी सहायता करने पर तत्पर है, तो हमें धोखा खाना पड़ेगा; किन्तु अपने स्वार्थ की धुन में ये मोटी-मोटी बातें भी हमारी निगाहों से छिप जाती हैं और छल अपने रँगे हुए भेष में आकर हमको सर्वदा के लिए परस्पर-व्यवहार का उपदेश दे देता है। शान और गुमान ने सोच-विचार से कुछ भी काम न लिया। और इधर ललनसिंह के फन्दे नित्यप्रति गाढ़े होते गये। मित्रता ने यहाँ तक पाँव पसारे कि भाइयों की अनुपस्थिति में भी वह बेधड़क घर में घुस जाते और आँगन में खड़े होकर छोटी बहन से पान-हुक्का माँगते। दूजी उन्हें देखते ही अति प्रसन्नता से पान बनाती। फिर आँखें मिलतीं, एक प्रेमाकांक्षा से बेचैन, दूसरी लज्जावश सकुची हुई। फिर मुसकराहट की झलक होठों पर आती। चितवनों की शीतलता कलियों को खिला देती। हृदय नेत्रों द्वारा बातें कर लेते।

इस प्रकार प्रेम-लिप्सा बढ़ती गयी। उस नेत्रालिंगन में, जो मनोभावों का बाह्यरूप था, उद्विग्नता और विकलता की दशा उत्पन्न हुई। वह दूजी, जिसे कभी मनिहारे और बिसाती की रुचिकर ध्वनि भी चौखट से बाहर न निकाल सकती थी, अब एक प्रेम-विह्वलता की दशा में प्रतीक्षा की मूर्ति बनी हुई घंटों दरवाजे

पर खड़ी रहती। उन दोहे और गीतों में, जिन्हें कभी वह विनोदार्थ गाया करती थी, अब उसे विशेष अनुराग और विरह-वेदना का अनुभव होता। तात्पर्य यह कि प्रेम का रंग गाढ़ा होगया।

शनैः-शनैः गाँव में चर्चा होने लगी। घास और काँस स्वयं उगते हैं, उखाड़ने से भी नहीं जाते। अच्छे पौधे बड़ी देख-रेख से उगते हैं। इसी प्रकार बुरे समाचार स्वयं फैलते हैं, छिपाने से भी नहीं छिपते। पनघटों और तालाबों के किनारे इस विषय पर कानाफूसी होने लगी। गाँव की बनियाइन, जो अपनी तराजू पर हृदयों को तौलती थी और ग्वालिन, जो जल में प्रेम का रंग देकर दूध का दाम लेती थी और तम्बोलिन जो पान के बीड़ों से दिलों पर रंग जमाती थी, बैठकर दूजी की लोलुपता और निर्लज्जता का राग अलापने लगी। बेचारी दूजी को घर से निकलना दुर्लभ हो गया, सखी-सहेलियाँ एवं बड़ी-बूढ़ियाँ सभी उसको तानें मारतीं। सखी-सहेलियाँ हँसी से छेड़तीं और वृद्धा स्त्रियाँ हृदय-विदारक व्यंगों से।

मर्दों तक बातें फैलीं। ठाकुरों का गाँव था। उनकी क्रोधाग्नि भड़की। आपस में सम्मति हुई कि ललनसिंह को इस दुष्टता का दण्ड देना उचित है। दोनों भाइयों को बुलाया और बोले—भैया, क्या अपनी मर्यादा का नाश करके विवाह करोगे?

दोनों भाई चौंक पड़े। उन्हें विवाह की उमंग में यह सुधि ही नहीं थी कि घर में क्या हो रहा है। शानसिंह ने कहा—तुम्हारी बात मेरी समझ में नहीं आयी। साफ-साफ क्यों नहीं कहते? एक ठाकुर ने जवाब दिया—साफ साफ क्या कहलाते हो! इस शोहदे ललनसिंह का अपने यहाँ आना-जाना बन्द कर दो, नहीं तो तुम तो अपनी आँखों पर पट्टी बाँधे ही हो, उसकी जान की कुशल नहीं। हमने अभी तक इसीलिए तरह दिया है कि कदाचित् तुम्हारी आँखें खुलें; किन्तु ज्ञात होता है कि तुम्हारे ऊपर उसने मुर्दे का भस्म डाल दिया है। ब्याह क्या अपनी आबरू बेचकर करोगे? तुम लोग खेत में रहते हो और हम लोग अपनी आँखों से देखते हैं कि वह शोहदा अपना बनाव-सँवार किये आता है और तुम्हारे घर में घण्टों घुसा रहता है। तुम उसे अपना भाई समझते हो, तो समझा करो। हम तो ऐसे भाई का गला काट लें, जो विश्वासघात करे।

भाइयों के नेत्र-पट खुले। दूजी के सम्बन्ध में जो ज्वर का सन्देह था, वह प्रेम का ज्वर निकला। रुधिर में उबाल आया। नेत्रों से चिनगारियाँ उड़ीं। तेवर बदले। दोनों भाइयों ने एक दूसरे की ओर क्रोधमय दृष्टि से देखा। मनोगत भाव जिह्वा तक न आ सके। अपने घर आये ; किन्तु दरवाजे पर पाँव रखा ही था कि ललनसिंह से मुठभेड़ होगयी।

ललनसिंह ने हँसकर कहा—वाह भैया! वाह! हम तुम्हारी खोज में बार-म्बार आते हैं; किन्तु आपके दर्शन तक नहीं मिलते। मैंने समझा, आखिर रात्रि में तो कुछ काम न होगा ; किन्तु देखता हूँ, आपको इस समय भी छुट्टी नहीं है।

शानसिंह ने हृदय के भीतर क्रोधाग्नि को दबाकर कहा—हाँ, इस समय वास्तव में छुट्टी नहीं है।

ललनसिंह—आखिर क्या काम है? मैं भी सुनूँ।

शानसिंह—बहुत बड़ा काम है; तुमसे छिपा न रहेगा।

ललनसिंह—कुछ वस्त्राभूषण का भी प्रबन्ध कर रहे हो? अब लगन सिर पर आ गयी है।

शानसिंह—अब बड़ी लगन सिर पर आ पहुँची है, पहले इसका प्रबन्ध करना है।

ललनसिंह—क्या किसी से ठन गयी, क्या?

शानसिंह—भली-भाँति।

ललनसिंह—किससे?

शानसिंह—इस समय जाइए, प्रातःकाल बतलाऊँगा।

५

दूजी भी ललनसिंह के साथ दरवाजे के चौखट तक आयी थी। भाइयों की आहट पाते ही ठिठक गयी और यह बातें सुनीं। उसका माथा ठनका कि आज यह क्या मामला है। ललनसिंह का कुछ आदर-सत्कार नहीं हुआ। न हुक्का, न पान। क्या भाइयों के कानों में कुछ भनक तो नहीं पड़ी? किसीने कुछ लगा तो नहीं दिया? यदि ऐसा हुआ, तो कुशल नहीं।

इसी उधेड़बुन में बैठी थी कि भाइयों ने भोजन परोसने की आज्ञा दी। जब वह भोजन करने बैठे, तो दूजी ने अपनी निर्दोषता और पवित्रता प्रकट करने के

लिए एवं अपने भाइयों के दिल का भेद लेने के लिए कुछ कहना चाहा। त्रिया-चरित्र में अभी निपुण न थी। बोली—भैया, ललनसिंह से कह दो, घर में न आया करें। आप घर में रहिए, तो कोई बात नहीं ; किन्तु कभी-कभी आप नहीं रहते तो मुझे अत्यन्त लज्जा आती है। आज ही वह आपको पूछते हुए चले आये। अब मैं उनसे क्या कहूँ ? आपको नहीं देखा, तो लौट गये।

ज्ञानसिंह ने बहिन की तरफ ताना-भरे नेत्रों से देखकर कहा—अब वह घर में न आयेंगे।

गुमानसिंह बोले—हम इसी समय जाकर उन्हें समझा देंगे।

भाइयों ने भोजन कर लिया। दूजी को पुनः कुछ कहने का साहस न हुआ। उसे उनके तेवर आज कुछ बदले हुए मालूम होते थे। भोजनोंपरान्त दोनों भाई दीपक लेकर भण्डारे की कोठरी में गये। अनावश्यक बर्तन, पुराने सामान, पुरुषाओं के समय के अस्त्र-शस्त्र आदि इसी कोठरी में रक्खे थे। गाँव में जब कोई बकरा देवीजी की भेंट किया जाता, तो यह कोठरी खुलती थी। आज तो कोई ऐसी बात नहीं है। इतनी रात गये यह कोठरी क्यों खोली जाती है ? दूजी को किसी भावी दुर्घटना का सन्देह हुआ। वह दबे-पाँव दरवाजे पर गयी, तो देखती क्या है कि गुमानसिंह एक भुजाली लिये पत्थर पर रगड़ रहा है। उसका कलेजा धक्-धक् करने लगा, और पाँव थर्राने लगे। वह उलटे पाँव लौटना चाहती थी कि ज्ञानसिंह की आवाज सुनायी दी—इसी समय एक घड़ी में चलना ठीक है। पहली नींद बड़ी गहरी होती है। बेधड़क सोता होगा। गुमानसिंह बोले—अच्छी बात है ; देखो भुजाली की धार ! एक हाथ में काम तमाम हो जायगा।

दूजी को ऐसा ज्ञात हुआ कि मानो किसीने पहाड़ पर से ढकेल दिया हो। सारी बातें उसकी समझ में आ गयीं। वह भय की दशा में घर से निकली और ललनसिंह के चौपाल की ओर चली ; किन्तु वह अन्धेरी रात प्रेम की घाटी थी और वह रास्ता प्रेम का कठिन मार्ग। वह इस सुनसान अँधेरी रात में चौकन्ने नेत्रों से इधर-उधर देखती, विह्वलता की दशा में शीघ्रतापूर्वक चली जाती थी ; किन्तु हाय निराशा ! एक-एक पग उसे प्रेम-भवन से दूर लिये जाता था। उस अँधेरी भयानक रात्रि में भटकती न-जाने वह कहाँ चली जाती थी, किससे पूछे ! लज्जा-वश वह किसी से कुछ न पूछ सकती थी। कहीं चूड़ियों की झनझनाहट

भेद न खोल दे! क्या इन अभागे आभूषणों को आज ही झनझनाना है? अन्त में एक वृक्ष-तले वह बैठ गयी, सब चूड़ियाँ चूर-चूर कर दीं, आभूषण उतारकर अंचल में बाँध लिये। किन्तु हाय! यह चूड़ियाँ सुहाग की चूड़ियाँ थीं; और ये गहने सुहाग के गहने थे, जो एक बार उतारकर फिर न पहने गये।

उसी वृक्ष के नीचे पयस्विनी नदी पत्थर के टुकड़ों से टकराती हुई बहती थी, जहाँ नौकाओं का निर्वाह दुस्तर था। दूजी बैठी हुई सोचती थी—क्या मेरे जीवन की नदी में प्रेम की नौका दुःख की शिलाओं से टक्कर खाकर डूब जायगी?

६

प्रातःकाल ग्रामवासियों ने आश्चर्यपूर्वक सुना कि ठाकुर ललनसिंह की किसीने हत्या कर डाली। सारे गाँव के स्त्री-पुरुष, वृद्ध और युवा सहस्रों की संख्या में चौपाल के सामने जमा होगये। स्त्रियाँ पनघटों को जाती हुई रुक गयीं। किसान हल-बैल लिये ज्यों-के-त्यों खड़े रह गये। किसीकी समझ में न आता था कि यह हत्या किसने की। कैसा मिलनसार, हँसमुख सज्जन मनुष्य था! उसका कौन ऐसा शत्रु था! बेचारे ने किसीपर इजाफा लगान या बेदखली की नालिश तक नहीं की। किसीको दो बात तक नहीं कही। दोनों भाइयों के नेत्रों से आँसू की धारा बहती थी। उनका घर उजड़ गया। सारी आशाओं पर तुषारपात होगया। गुमानसिंह ने रोकर कहा—हम तीन भाई थे, अब दो ही रह गये। हमसे तो दाँत-काटी रोटी थी। साथ उठना-बैठना, हँसी-दिल्लगी। भोजन-छाजन एक होगया था। हत्यारे से इतना भी नहीं देखा गया। अब इसको कौन सहारा देगा? शानसिंह से आँसू पोंछते हुए कहा—हम दोनों भाई कपास निराने जा रहे थे। ललनसिंह से कई दिनों से भेंट नहीं हुई थी। सोचा कि इधर से होते चलें; किन्तु पिछवाड़े आते ही सेंध दिखायी पड़ी। हाथों के तोते उड़ गये। दरवाजों पर जाकर देखा, तो चौकीदार-सिपाही सब सो रहे हैं। उन्हें जगाकर ललनसिंह का किवाड़ खटखटाने लगा; परन्तु बहुत बल करने पर भी किवाड़ अन्दर से न खुला, तो सेंध के रास्ते से झाँका। आह! कलेजे में एक तीर लग गया! संसार अँधेरा सा दिखायी दिया। प्यारे ललनसिंह का सिर धड़ से अलग था। रक्त की नदी बह रही थी। भैया सदा के लिए बिछुड़ गये।

मध्याह्न-काल तक इसी प्रकार विलाप होता रहा। दरवाजे पर मेला लगा

हुआ था। दूर-दूर से लोग इस दुर्घटना का समाचार पाकर इकट्ठे होते जाते थे। संध्या होते-होते हल्के के दारोगा साहब भी चौकीदार और सिपाहियों का एक झुण्ड लिये आ पहुँचे। कढ़ाही चढ़ गयी। पूड़ियाँ छनने लगीं। दारोगाजी ने जाँच करना शुरू किया। घटनास्थल देखा। चौकीदारों का बयान हुआ। दोनों भाइयों के बयान लिखे। आस-पास के पासी और चमार पकड़े गये और उनपर मार पड़ने लगी। ललनसिंह की लाश लेकर थाने पर गये। हत्यारे का पता न चला। दूसरे दिन इंस्पेक्टर-पुलिस का आगमन हुआ। उन्होंने भी गाँव का चक्कर लगाया, चमारों और पासियों की फिर मरम्मत हुई। हलुआसोहन, गोश्त और पूड़ी का स्वाद लेकर सायंकाल को उन्होंने भी अपनी राह ली। कुछ पासियों पर, जो कि कई बार डाके-चोरी में पकड़े जा चुके थे, सन्देह हुआ। उनका चालान किया गया। मजिस्ट्रेट ने गवाही पुष्ट पाकर अपराधियों को सेशन-सुपुर्द किया और मुकदमे की पेशी होने लगी।

मध्याह्न का समय था। आकाश पर मेघ छाये हुए थे। कुछ बूँदें भी पड़ रही थीं। सेशन-जज कुँवर विनयकृष्ण बघेला के इजलास में मुकदमा पेश था। कुँवर साहब बड़े सोच-विचार में थे कि क्या करूँ। अभियुक्तों के विरुद्ध साक्षी निर्बल थी। किन्तु सरकारी वकील, जो एक प्रसिद्ध नीतिज्ञ थे, नजीरों-पर-नजीरें पेश करते जाते थे कि अचानक दूजी श्वेत साड़ी पहने, घूँघट निकाले हुए निर्भय न्यायालय में आ पहुँची और हाथ जोड़कर बोली—श्रीमान्, मैं शानसिंह और गुमानसिंह की बहन हूँ। इस मामले में जो कुछ जानती हूँ, वह मुझसे भी सुन लिया जाय। इसके बाद सरकार जो फैसला चाहे, करें।

कुँवर साहब ने आश्चर्य से दूजी की तरफ दृष्टि फेरी। शानसिंह और गुमानसिंह के शरीर में काटो तो रक्त नहीं। वकीलों ने भी आश्चर्य की दृष्टि से उसकी ओर देखना शुरू किया। दूजी के चेहरे पर दृढ़ता झलक रही थी। भय का लेशमात्र न था। नदी आँधी के पश्चात् स्थिर दशा में थी। उसने उसी प्रवाह में कहना आरम्भ किया—ठाकुर ललनसिंह की हत्या करनेवाले मेरे दोनों भाई हैं।

कुँवर साहब के नेत्रों के सामने से पर्दा हट-सा गया। सारी कचहरी दंग हो गयी और सब टकटकी बाँधे दूजी की तरफ देखने लगे।

दूजी बोली—यह वह भुजाली है, जो ललनसिंह की गर्दन पर फेरी गयी

है। अभी इसका खून ताजा है। मैंने अपनी आँखों से भाइयों को इसे पत्थर पर रगड़ते देखा ; उनकी बातें सुनीं। मैं उसी समय घर से बाहर निकली कि ललनसिंह को सावधान कर दूँ ; किन्तु मेरा भाग्य खोटा था। चौपाल का पता न लगा। मेरे दोनों भाई सामने खड़े हैं, वे मर्द हैं। मेरे सामने असत्य कदापि न कहेंगे। इनसे पूछ लिया जाय। और सच पूछिए, तो यह छूरी मैंने चलायी है। मेरे भाइयों का अपराध नहीं है। यह सब मेरे सौभाग्य का खेल है। यह सब मेरे ही कारण हुआ है और न्याय की तलवार मेरी ही गरदन पर पड़नी चाहिए। मैं ही अपराधिनी हूँ और हाथ जोड़कर कहती हूँ कि इस भुजाली से मेरी गर्दन काट ली जाय।

७

न्यायालय में एक स्त्री का आना, बाजार में भानमती का आना है। अबतक अभियोग नीरस और अरुचिकर था। दूजी के आगमन ने उसमें प्राण डाल दिये। न्यायालय में एक भीड़ लग गयी। मवक्किल और वकील, अमले और दूकानदार असावधानी की दशा में इधर-उधर से दौड़ते हुए चले आते थे। प्रत्येक पुरुष उसके देखने का इच्छुक था। सहस्रों नेत्र उसके मुखड़े की तरफ देखते थे और वह जन-समूह में शान्ति की मूर्ति बनी हुई निश्चल खड़ी थी।

इस घटना की प्रत्येक पुरुष अपनी-अपनी समझ के अनुसार आलोचना करता था। वृद्धजन कहते थे—बेहया है, ऐसी लड़की का तो सिर काट लेना चाहिए। भाइयों ने वही किया, जो मर्दों का काम था। इस निर्लज्ज को तो देखो कि अपना परदा ढाँकने के बदले उसका डंका बजा रही है और भाइयों को भी डुबाये देती है। आँखों का पानी गिर गया है। ऐसी न होती, तो यह दिन ही क्यों आता!

मगर स्वतन्त्रता पर जान न्यौछावर कर देनेवाले नवयुवकों, वकीलों और अमलों में उसके साहस और निर्भयता की प्रशंसा हो रही थी। उनकी समझ में, जब यहाँ तक नौबत आ गयी थी, तो भाइयों का धर्म था कि दोनों का ब्याह कर देते।

कई वृद्ध वकीलों की अपने नवयुवक मित्रों से कुछ छेड़छाड़ होगयी। एक फ़ैशनेबुल बैरिस्टर साहब ने हँसकर कहा—मित्र और तो जो कुछ है सो है, यह

स्त्री सहस्रों में एक है ; रानी मालूम होती है। सर्वसाधारण ने इसका समर्थन किया। कुँवर विनयकृष्ण इस समय कचहरी से उठे थे। बैरिस्टर साहब की बात सुनी और घृणा से मुँह फेर लिया। वह सोच रहे थे कि जिस स्त्री के क्रोध में इतनी ज्वाला है, क्या उसका प्रेम भी इसी प्रकार ज्वालापूर्ण होगा?

८

दूसरे दिन फिर दस बजे मुकदमा पेश हुआ। कमरे में तिल रखने की जगह न थी। कूजी कटघरे के पास सिर झुकाये खड़ी थी। दोनों भाई कई कानस्टेबुलों के बीच में चुपचाप खड़े थे। कुँवर विनयकृष्ण ने उन्हें सम्बोधित करके उच्च-स्वर से कहा—ठाकुर शानसिंह और गुमानसिंह, तुम्हारी बहिन ने तुम्हारे सम्बन्ध में अदालत में जो कुछ बयान किया है, उसका तुम्हारे पास क्या उत्तर है?

शानसिंह ने गर्वपूर्ण भाव से उत्तर दिया—मेरी बहिन ने जो कुछ बयान किया, वह सब सत्य है। हमने अपना अपराध इसलिए छिपाया था कि हम बदनामी और बेइज्जती से डरते थे। किन्तु अब, जबकि हमारी बदनामी जो कुछ होनी थी हो चुकी, तो हमको अपनी सफाई देने की कोई आवश्यकता नहीं। ऐसे जीवन से अब मृत्यु ही उत्तम है। ललनसिंह से मेरी हार्दिक मित्रता थी। आपस में कोई विभेद न था। हम उसे अपना भाई समझते थे ; किन्तु उसने हमको धोखा दिया। उसने हमारे कुल में कलंक लगा दिया और हमने उसका बदला लिया। उसने चिकनी-चुपड़ी बातों द्वारा हमारी इज्जत लेनी चाही ; किन्तु हम अपने कुल की मर्यादा इतनी सस्ती नहीं बेंच सकते थे। स्त्रियाँ ही कुल-मर्यादा की सम्पत्ति होती हैं। मर्द उसके रक्षक होते हैं। जब इस सम्पत्ति पर कपट का हाथ उठे, तो मर्दों का धर्म है कि रक्षा करें। इस पूँजी को अदालत का क़ानून, परमात्मा का भय या सद्विचार नहीं बचा सकता। हमको इसके लिए न्यायालय से जो दण्ड प्राप्त हो, वह शिरोधार्य है,।

जज ने शानसिंह की बात सुनी। कचहरी में सन्नाटा छा गया और उस सन्नाटे की दशा में उन्होंने अपना फैसला सुनाया। दोनों भाइयों को हत्या के अपराध में कालेपानी का दण्ड मिला।

सायंकाल होगया था। दोनों भाई कॉन्स्टेबुलों के बीच में कचहरी से बाहर निकले। हाथ में हथकड़ियाँ थीं, पावों में बेड़ियाँ। हृदय अपमान से संकुचित,

और सिर लज्जा के बोझ से झुके हुए थे। मालूम होता था, मानो सारी पृथ्वी इनपर हँस रही है।

दूजी पृथ्वी पर बैठी थी कि उसने कैदियों के आने की आहट सुनी। उठ खड़ी हुई। भाइयों ने भी उसकी ओर देखा। परन्तु हाय! उन्हें ऐसा ज्ञात हुआ कि यह भी हमारे ऊपर हँस रही है। घृणा से नेत्र फेर लिये। दूजी ने भी उन्हें देखा; किन्तु क्रोध और घृणा से नहीं, केवल एक उदासीन भाव से। जिन भाइयों की गोद में खेली और जिनके कंधों पर चढकर बाल्यावस्था व्यतीत की, जिन भाइयों पर जान न्यौछावर करती थी, आज वही दोनों भाई उस कालेपानी को जा रहे हैं, जहाँ से कोई लौटकर नहीं आता और उसके रक्त में तनिक भी गति नहीं होती! रुधिर भी द्वेष से जल की भाँति जम जाता है। सूर्य की किरणें वृक्षों की डालियों से मिलीं, फिर जड़ों को चूमती हुई चल दीं। उनके लिए अन्धकार गोद फैलाये हुए था। क्या इस अभागिनी स्त्री के लिए भी इस संसार में कोई ऐसा आश्रय नहीं था?

आकाश की लालिमा नीलावरण होगयी। तारों के कँवल खिले। बायु के लिए पुष्प-शय्या बिछ गयी। ओस के लिए हरी मखमल का फर्श बिछ गया; किन्तु अभागिनी दूजी उसी वृक्ष के नीचे शिथिल बैठी थी। उसके लिए संसार में कोई स्थान न था। अबतक जिसे वह अपना घर समझती थी, उसके दरवाजे उसके लिए बन्द थे। वह वहाँ क्या मुँह लेकर जाती? नदी को अपने उद्गम से चलकर अथाह समुद्र के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं ठिकाना नहीं है।

दूजी उसी तरह निराशा के समुद्र में निमग्न हो रही थी कि एक वृद्धा स्त्री उसके सामने आकर खड़ी होगयी। दूजी चौंककर उठ बैठी। वृद्धा स्त्री ने उसकी ओर आश्चर्यान्वित होकर कहा—इतनी रात बीत गयी, अभी तक तुम यहीं बैठी हो।

दूजी ने चमकते हुए तारों की ओर देखकर कहा—कहाँ जाऊँ? इन शब्दों में कैसा हृदय-विदारक आशय छिपा हुआ था। कहाँ जाय? संसार में उसके लिए अपमान की गली के सिवा और कोई स्थान नहीं था। बुढ़िया ने प्रेममय स्वर में कहा—बेटी, भाग्य में जो कुछ लिखा है, वह तो होकर ही रहेगा; किन्तु तुम यहाँ कबतक बैठी रहोगी? मैं दीन ब्राह्मणी हूँ। चलो, मेरे घर रहो; जो

कुछ भिक्षा-भवन माँगे मिलेगा, उसीमें हम दोनों निर्वाह कर लेंगी। न-जाने पूर्व-जन्म में हमसे-तुमसे क्या सम्बन्ध था। जबसे तुम्हारी दशा सुनी है, बेचैन हूँ। सारे शहर में आज घर-घर तुम्हारी चर्चा हो रही है। कोई कुछ कहता है, कोई कुछ। बस, अब उठो। यहाँ सन्नाटे में पड़े रहना अच्छा नहीं। समय बुरा है। मेरा घर यहाँ से थोड़ी ही दूर पर है। नारायण का दिया बहुत-कुछ है। मैं भी अकेली से दुकेली हो जाऊँगी। भगवान किसी-न-किसी प्रकार दिन काट ही देंगे।

एक घने, सुनसान, भयानक वन में भटका हुआ मनुष्य जिधर पगडंडियों का चिह्न पाता है, उसी मार्ग को पकड़ लेता है। यह नहीं सोच-विचार करता कि वह मार्ग मुझे कहाँ ले जायगा। दूजी इस बुढ़िया के साथ चली, इतनी ही प्रसन्नता से कुएँ में कूद पड़ती। वायु में उड़नेवाली चिड़िया दानों पर गिरी। क्या इन दानों के नीचे जाल बिछा हुआ था?

१०

दूजी को बूढ़ी कैलासी के साथ रहते हुए एक मास बीत गया। कैलासी देखने में दीन; किन्तु मन की धनी थी। उसके पास सन्तोष-रूपी धन था, जो किसीके सामने हाथ नहीं फैलाता। रीवाँ के महाराज के यहाँ से कुछ सहायता मिलती थी, यही उसके जीवन का अवलम्ब था। वह सर्वदा दूजी को ढाढ़स देती रहती थी। ज्ञात होता था कि ये दोनों माँ-बेटी हैं। एक ओर से पूर्ण सहानुभूति और ढाढ़स, दूसरी ओर से सच्ची सेवकाई और विश्वास। कैलासी कुछ हिन्दी जानती थी। दूजी को रामायण और सीता-चरित्र सुनाती। दूजी इन कथाओं को बड़े प्रेम से सुनती। उज्ज्वल वस्त्र पर रंग भलीभाँति चढ़ता है। जिस दिन उसने सीता वनवास की कथा सुनी, वह सारे दिन रोती रही। सोई तो सीता की मूर्ति उसके सामने खड़ी थी। उनके शरीर पर उज्ज्वल साड़ी थी, आँखों में आँसू और आँसू की ओट में प्यार छिपा हुआ था। दूजी हाथ फैलाये हुए लड़कों की भाँति उनकी तरफ दौड़ी—माता! मुझको भी साथ लेती चलो। मैं वन में तुम्हारी सेवा करूँगी। तुम्हारे लिए पुष्प-शय्या बिछाऊँगी। तुमको कमल के थालों में फलों का भोजन कराऊँगी। तुम वहाँ अकेली एक बुड्ढे साधु के साथ कैसे रहोगी? मैं तुम्हारे चित्त को प्रसन्न रखूँगी। जिस समय हम और

तुम वन में किसी सागर के किनारे घने वृक्षों की छाया में बैठोंगी, उस समय मैं वायु की धीमी-धीमी लहरों के साथ गाऊँगी।

सीता ने उसको तिरस्कार से देखकर कहा—तू कलंकिनी है, मैं तुझे स्पर्श नहीं कर सकती। तपस्या की आँच में अपने को पवित्र कर।

दूजी की आँखें खुल गयीं। उसने निश्चय किया—मैं इस कलंक को मिटाऊँगी।

आकाश के नीले समुद्र में तारागण पानी के बुलबुले की भाँति मिटते जाते थे। दूजी ने उन झिलमिलाते हुए तारों को देखा। मैं भी उन्हीं तारों की तरह सबके नेत्रों से छिप जाऊँगी। उन्हीं बुलबुलों को भाँति मिट जाऊँगी।

विलासियों की रात हुई। संयोगी जागे। चक्कियों ने अपने सुहावने राग छेड़े। कैलासी स्नान करने चली। तब दूजी उठी और जंगल की ओर चल दी। चिड़िया पंख-हीन होने पर भी सुनहरे पिंजड़े में न रह सकी।

११

प्रकाश की एक धुँधली-सी झलक में कितनी आशा, कितना बल, कितना आश्वासन है! यह उस मनुष्य से पूछो, जिसे अँधेरे ने एक घने वन में घेर लिया है। प्रकाश की वह प्रभा उसके लड़खड़ाते हुए पैरों को शीघ्रगामी बना देती है; उसके शिथिल शरीर में जान डाल देती है। जहाँ एक-एक पग रखना दुस्तर था, वहाँ इस जीवन-प्रकाश को देखते हुए यह मीलों और कोसों तक प्रेम की उमंगों में उछलता हुआ चला जाता है।

परन्तु दूजी के लिए आशा की यह प्रभा कहाँ थी? वह भूखी-प्यासी, उन्माद की दशा में चली जाती थी।

शहर पीछे छूटा। बाग और खेत आये। खेतों में हरियाली थी, वाटि-काओं में वसन्त की छटा। मैदान और पर्वत मिले। मैदानों से बाँसुरी की सुरीली तानें आती थीं। पर्वतों के शिखर मोरों की आवाज से गूँज रहे थे।

दिन चढ़ने लगा। सूर्य उसकी ओर आता हुआ दिखायी पड़ा। कुछ काल तक उसके साथ रहा। कदाचित् रूठे को मनाता था। पुनः अपनी राह चला गया। वसंत ऋतु की शीतल, मंद, सुगंधित वायु चलने लगी। खेतों ने कुहरों की चादरें ओढ़ लीं। रात होगयी और दूजी एक पर्वत के किनारे झाड़ियों में

उलझती, चट्टानों से टकराती चली जाती थी, मानो किसी झील की मंद-मंद लहरों में किनारे पर उगे हुए झाऊ के पौधों का साया थरथरा रहा हो। इस प्रकार अज्ञात की खोज में अकेली, निर्भय वह गिरती-पड़ती चली जाती थी। यहाँ तक कि भूख-प्यास और अधिक श्रम के कारण उसकी शक्तियों ने जवाब दे दिया। वह एक शिला पर बैठ गयी और भयभीत-दृष्टि से इधर-उधर देखने लगी। दाहिने-बायें घोर अंधकार था। उच्च पर्वत-शिखाओं पर तारे जगमगा रहे थे। सामने एक टीला मार्ग रोके खड़ा था और समीप ही किसी जल-धारा की दबी हुई सायँ-सायँ की आवाज सुनायी देती थी।

१२

दूजी थककर चूर होगयी थी; पर उसे नींद न आयी। सर्दी से कलेजा काँप रहा था। वायु के निर्दयी झोंके क्षणमात्र भी चैन न लेने देते थे। कभी कभी एक क्षण के लिए आँखें झपक जातीं और फिर चौंक पड़तीं। रात्रि ज्यों-त्यों व्यनीत हुई। सवेरा हुआ। चट्टान से कुछ दूर पर एक घना पाकर का वृक्ष था, जिसकी जड़ें सूखे पत्थरों से चिमटकर यों रस खींचती थीं, जैसे कोई महाजन दीन असामियों को बाँधकर उनसे ब्याज के रुपये वसूल करता है। इस वृक्ष के सामने कई छोटी-छोटी चट्टानों ने मिलकर एक कोठरी की आकृति बना रक्खी थी। दाहिनी ओर, लगभग दो सौ गज की दूरी पर, नीचे की ओर पयस्विनी नदी चट्टानों और पाषाण-शिखाओं से उलझती, घूमती-घामती बह रही थी, जैसे कोई दृढ़प्रतिज्ञ मनुष्य बाधाओं का ध्यान न कर, अपने इष्ट साधन के मार्ग पर बढ़ता चला जाता है। नदी के किनारे साधु प्रकृति बगुले चुपचाप मौन-व्रत धारण किये हुए बैठे थे। संतोषी जलपक्षी पानी में तैर रहे थे। लोभी टिटिहि-रियाँ नदी पर मँडराती थीं और रह-रहकर मछलियों की खोज में टूटती थीं। खिलाड़ी मैने निःशंक अपने पैरों को खुजला-खुजला स्नान कर रहे थे और चतुर कौए झुंड-के-झुंड भोजन-सम्बन्धी प्रश्न को हल कर रहे थे। एक वृक्ष के नीचे मोरों की सभा सुसज्जित थी और वृक्षों की शाखाओं पर कबूतर आनन्द कर रहे थे। एक दूसरे वृक्ष पर महाशय काग एवं श्रीमान् पं० नीलकंठजी घोर शास्त्रार्थ में प्रवृत्त थे। महाशय काग ने छेड़ने ही के लिए पंडितजी के निवास-स्थान की ओर दृष्टि डाली थी। इसपर पंडितजी इतने क्रोधित हुए कि महाशय काग के

पीछे पड़ गये। महाशय काग अपनी स्वाभाविक बुद्धिमत्ता को काम में लाकर सहज ही में भाग खड़े हुए। श्रीमान् पंडितजी बुरा-भला कहते हुए महाशय काग के पीछे पड़े। किसी भाँति महाशयजी की सर्वज्ञता ने उनकी जान बचायी।

थोड़ी देर में जंगली नीलगायों का एक झुंड आया। किसीने पानी पिया, किसीने सूँघकर छोड़ दिया। दो-चार युवावस्था के मतवाले आपस में सींगे मिलाने लगे। फिर एक काला हिरन अभिमान-भरे नेत्रों से देखता, ऐंड़-ऐंड़कर पैर उठाता कुछ मृगनयनियों को साथ लिये नदी के किनारे आया। बच्चे थोड़ी दूर पर खेलते हुए चले आते थे। कुछ और हटकर एक वृक्ष के नीचे बन्दरों ने अपने डेरे डाल रक्खे थे, बच्चे क्रीड़ा करते थे। पुरुषों में छेड़छाड़ हो रही थी। रमणियाँ सानन्द बैठी हुई एक दूसरों के बालों से जूयें निकालती थीं और उन्हें अपने मुँह में रखती जाती थीं। दूजी एक चट्टान पर अर्द्धनिद्रा की दशा में बैठी हुई यह दृश्य देख रही थी। घाम के कारण निद्रा आ गयी। नेत्र पट बन्द होगये।

१३

प्रकृति की इसी रंग-भूमि में दूजी ने अपने चौदह वर्ष व्यतीत किये। वह प्रतिदिन प्रातःकाल इसी नदी के किनारे शिलाओं पर बैठी यही दृश्य देखती, और लहरों की कारुणिक ध्वनि सुनती। उसी नदी की भाँति उसके मन में लहरें उठतीं, जो कभी धैर्य और साहस के किनारों पर चढ़कर नेत्रों द्वारा बह निकलतीं। उसे मालूम होता कि वन के वृक्ष तथा जीव-जन्तु सब मेरी ओर व्यंग-पूर्ण नेत्रों से देख रहे हैं। नदी भी उसे देखकर क्रोध से मुँह में फेन भर लेती। जब यहाँ बैठे बैठे उसका जी ऊब जाता, तो वह पर्वत पर चढ़ जाती और दूर तक देखती। पर्वतों के बीच में कहीं-कहीं मिट्टी के घरौंदे की भाँति छोटे-छोटे मकान दिखायी देते, कहीं लहलहाती हुई हरियाली। सारा दृश्य एक नवीन वाटिका की भाँति मनोरम था। उसके दिल में एक तीव्र इच्छा होती कि उड़कर उन चोटियों पर जा पहुँचती। नदी के किनारे या पाकर की घनी छाया में बैठी हुई घंटों सोचा करती। बचपन के वे दिन याद आ जाते, जब वह सहेलियों के गले में बाँहें डालकर महुए चुनने जाया करती थी। फिर गुड़ियों के ब्याह का स्मरण हो आता। पुनः अपनी प्यारी मातृभूमि का पनघट आँखों में फिर जाता। आज भी वहाँ वही भीड़ होगी, वही हास्य, चहल-पहल। पुनः अपना घर ध्यान में आता

और वह गाय स्मरण आती, जो कि उसको देखकर हुँकारती हुई अपने प्रेम का परिचय देती थी। मुन्नू स्मरण हो आता, जो उसके पीछे-पीछे छलाँगें मारता हुआ खेतों में जाया करता; जो बर्तन धोते समय बारम्बार बर्तनों में मुँह डालता। तब ललनसिंह नेत्रों के सामने आकार खड़े हो जाते थे। होठों पर वही मुस्कराहट, नेत्रों में वही चंचलता। वह उठ खड़ी होती और अपने मन को दूसरी ओर ले जाने की चेष्टा करती।

दिन गुजरते थे, किन्तु बहुत धीरे-धीरे। वसंत आया। सेमल की लालिमा एवं कचनार की ऊदी पुष्प-माला अपनी यौवन-छटा दिखलाने लगी। मकोय के फल महँके। गर्मी का प्रारम्भ हुआ—प्रातःकाल के समीर के झोंके, दोपहर की लू, जलती हुई लपट। डालियाँ फूलों से लदीं। फिर समय आया कि जब दिन को न सुख था और न रात को नींद। दिन तड़पता था, रात जलती थी। नदियाँ बधिकों के हृदयों की भाँति सूख गयीं। वन के पशु मध्याह्न की धूप में प्यास के कारण जिह्वा निकाले पानी की खोज में इधर-उधर दौड़ते फिरते थे। जिस प्रकार द्वेष से भरे हुए दिल तनिक-तनिक-सी बातों पर जल उठते हैं, उसी प्रकार गर्मी से जलते हुए वन-वृक्ष कभी-कभी वायु के झोंकों से परस्पर रगड़ खाकर जल उठते थे। ज्वाला ऊँची उठती थी, मानो अग्निदेव ने तारागणों पर धावा मारा है। वन में एक भगदड़-सी पड़ जाती। फिर आँधी और तूफान के दिन आते। वायु की देवी गुजरती हुई आती। पृथ्वी और आकाश थर्रा उठते, सूर्य छिप जाता, पर्वत भी काँप उठते थे। पुनः वर्षा-ऋतु का जन्म हुआ। वर्षा की झड़ी लगी। वन लहराये, नदियों ने पुनः-पुनः अपने सुरीले राग छेड़े। पर्वतों के कलेजे ठण्डे हुए। सूखे मैदानों में हरियाली छायी। सारस की ध्वनि पर्वतों में गूँजने लगी। आषाढ़ मास में बाल्यावस्था का अल्हड़पन था। श्रावण में युवावस्था के पग बढ़े; फुहारें पड़ने लगीं। भादों कमाई के दिन थे, जिसने झीलों के कोष भर दिये। पर्वतों को धनाढ्य कर दिया। अन्त में बुढ़ापा आया। काँस के उज्ज्वल बाल लहराने लगे। जाड़ा आ पहुँचा।

१४

इस प्रकार ऋतु का परिवर्तन हुआ। दिन और महीने गुजरे, वर्ष आये और गये; किन्तु दूजी ने विन्ध्याचल के उस किनारे को न छोड़ा। गर्मियों के

भयानक दिन और वर्षा की भयावनी रातें सब उसी स्थान पर काट दीं। क्या भोजन करती थी, क्या पहनती थी, इसकी चर्चा व्यर्थ है। मन पर चाहे जो बीते, किन्तु भूख और ऋतु-सम्बन्धी कष्ट का निवारण करना ही पड़ता है। प्रकृति की थाल सजी हुई थी। कभी बनबेरों और शरीफों के पकवान थे, कभी तेंदू, कभी मकोय और कभी राम का नाम। वस्त्रों के लिए चित्रकूट के मेले में साल में केवल एक बार जाती। मोरों के पर, हिरनों की सींग, वन-औषधियाँ महँगे दामों बिकतीं। कपड़ा भी आया। बर्तन भी आये—यहाँ तक कि दीपक-जैसी विलास-वस्तु भी एकत्र होगयी। एक छोटी-सी गृहस्थी जम गयी।

दूजी ने निराशा की दशा में संसार से विमुख होकर जीवन व्यतीत करना जितना सहज समझा था, उससे कहीं कठिन मालूम हुआ। आत्मानुराग में निमग्न वैरागी तो वन में रह सकता है; परन्तु एक स्त्री, जिसकी अवस्था हँसने-खेलने में व्यतीत हुई हो, बिना किसी नौका के सहारे विराग-सागर को किस प्रकार पार करने में समर्थ हो सकती है? दो वर्ष के पश्चात् दूजी को एक-एक दिन वहाँ वर्ष का-सा प्रतीत होने लगा। कालक्षेप करना दुस्तर होगया। घर की सुधि एक क्षण भी विस्मृत न होती। कभी-कभी वह इतनी व्यग्र होती कि क्षणमात्र के लिए अपमान का भी भय न रहता। वह दृढ़ विचार करके उन पहाड़ियों के बीच शीघ्रता से पग बढ़ाती, घर की ओर चलती, मानो कोई अपराधी कारागार से भागा जा रहा हो। किन्तु पहाड़ियों की सीमा के बाहर आते ही उसके पग स्वयं रुक जाते। वह आगे न बढ़ सकती। तब वह एक ठण्ढी साँस भरकर एक शिला पर बैठ जाती और फूट-फूटकर रोती। फिर वही भयानक रात्रि और वही सघन कुञ्ज, वही नदी की भयावनी गरज और शृगालों की वही विकराल ध्वनि!

"ज्यों-ज्यों भीजै कामरी, ज्यों-त्यों भारी होय"—भाग्य को धिक्कारते-धिक्कारते उसने ललनसिंह को धिक्कारना आरम्भ किया। एकान्तवास ने उसमें आलोचना और विवेचना की शक्ति पैदा कर दी। मैं क्यों इस वन में मुँह छिपाये दुःख के दिन व्यतीत कर रही हूँ? यह उसी निर्दयी लालनसिंह की लगायी आग है। कैसे सुख से रहती थी! इसीने आकर मेरे झोपड़े में आग लगा दी। मैं अबोध और अनजान थी। उसने जान-बूझकर मेरा जीवन भ्रष्ट कर डाला। उसने मुझे

अपने आमोद का केवल एक खिलौना बनाया था। यदि उसे मेरा प्रेम होता, तो क्या वह मुझसे विवाह न कर लेता ? वह भी तो चन्देल ठाकुर था। हाय! मैं कैसी अज्ञान थी। अपने पैरों में आप कुल्हाड़ी मारी। इस प्रकार मन से बातें करते-करते ललनसिंह की मूर्त्ति उसके नेत्रों के सम्मुख आ जाती, तो वह घृणा से मुँह फेर लेती। वह मुसकराहट, जो उसका मन हर लिया करती थी, वह प्रेममय मृदुभाषण जो उसके नसों में सनसनाहट पैदा कर देता था, वह क्रीड़ामय हाव-भाव जिनपर वह मतवाली हो जाती थी, अब उसे एक दूसरे ही रूप में दृष्टिगोचर होते। उनमें अब प्रेम की झलक न थी। वह अब कपट-प्रेम और काम-तृष्णा के गाढ़े रंग में रँगे हुए दिखायी देते थे। वह प्रेम का कच्चा घरौना, जिसमें वह गुड़िया बनी बैठी थी, वायु के झोंके में सँभला ; परन्तु जल के प्रबल प्रवाह में न सँभल सका। अब वह अभागी गुड़िया निर्दयी चट्टानों पर पटक दी गयी है कि रो-रोकर जीवन के दिन काटे—उन गुड़ियों की भाँति, जो गोटे पट्टे और आभूषणों से सजी हुई, मखमली पेटारे में भोग-विलास करने के पश्चात्, नदी और तालाब में बहा दी जाती हैं, डूबने के लिए और तरंगों के थपेड़े खाने के लिए।

ललनसिंह की तरफ से फिरते ही दूजी का मन एक अधीरता के साथ भाइयों को ओर मुड़ा। मैं अपने साथ उन बेचारों को व्यर्थ ले डूबी। मेरे सिर पर उस घड़ी न-जाने कौन-सा भूत सवार था। उन बेचारों ने तो जो कुछ किया; मेरी ही मर्यादा रखने के लिए किया। मैं तो उन्मत्त हो रही थी। समझाने-बुझाने से क्या काम चलता और समझाना-बुझाना तो स्त्रियों का काम है। मर्दों का समझाना तो उसी ढग का होना चाहिए और होता ही है। नहीं मालूम, उन बेचारों पर क्या बीती! क्या मैं उन्हें फिर कभी देखूँगी! यह विचारते-विचारते भाइयों की वह मूर्ति उसके नेत्रों में फिर जाती, जो उसने अन्तिम बार देखी थी, जब वह उस देश को जा रहे थे, जहाँ से लौटकर फिर आना मानो मृत्यु के मुख से निकल आना है—वह रक्तवर्ण नेत्र, वह अभिमान से भरी हुई चाल, वह फिरे हुए नेत्र जो एक बार उसकी ओर उठ गये थे। आह! उनमें क्रोध या द्वेष न था, केवल क्षमा थी। वह मुझपर क्रोध क्या करते! फिर अदालत के इजलास का चित्र नेत्रों के सामने खिंच जाता। भाइयों के वह तीवर,

उनकी वह आँखें, जो क्षणमात्र के लिए क्रोधाग्नि से फैल गयी थीं, फिर उनकी प्यार की बातें, उनका प्रेम स्मरण आता। पुनः वे दिन याद आते, जब वह उनकी गोद में खेलती थी, जब वह उनकी उँगली पकड़कर खेतों को जाया करती थी। हाय! क्या वह दिन भी आवेंगे कि मैं उनको पुनः देखूँगी।

एक दिन वह था कि दूजी अपने भाइयों के रक्त की प्यासी थी; निदान एक दिन आया कि वह पयस्विनी नदी के तट पर कंकड़ियों-द्वारा दिनों की गणना करती थी। एक कृपण जिस सावधानी से रुपयों को गिन-गिनकर इकट्ठा करता है, उसी सावधानी से दूजी इन ककड़ियों को गिन-गिनकर इकट्ठा करती थी। नित्य संध्या-काल वह इस ढेर में पत्थर का एक टुकड़ा और रख देती, तो उसे क्षणमात्र के लिए मानसिक सुख प्राप्त होता। इन कंकड़ियों का ढेर अब उसका जीवन-धन था। दिन में अनेकों बार इन टुकड़ों को देखती और गिनती। असहाय पक्षी पत्थर के ढेरों से आशा के खोंते बनाता था।

यदि किसीको चिन्ता और शोक की मूर्त्ति देखनी हो, तो वह पयस्विनी नदी के तट पर प्रतिदिन सायंकाल को देख पड़ती है। डूबते हुए सूर्य की किरणों की भाँति उसका मुख-मण्डल पीला है। वह अपने दुःखमय विचारों में डूबी हुई, तरगों की ओर दृष्टि लगाये बैठी रहती है। तरंगें इतनी शीघ्रता से कहाँ जा रही हैं? मुझे भी अपने साथ क्यों नहीं ले जातीं? क्या मेरे लिए वहाँ भी स्थान नहीं है? कदाचित् शोक-क्रन्दन में यह भी मेरी संगिनी हैं। तरंगों की ओर देखते-देखते उसे ऐसा ज्ञात होता है कि मानो वह स्थिर हो गयीं और मैं शीघ्रता से बही जा रही हूँ। तब वह चौंक पड़ती है और अँधेरी शिलाओं के बीच, मार्ग खोजती हुई फिर अपने शोक-स्थल पर आ जाती है।

इसी प्रकार दूजी ने अपने दुःख के दिन व्यतीत किये। तीस-तीस ढेलों के बारह ढेर बन गये; तब उसने उन्हें एक स्थान पर इकट्ठा कर दिया। वह आशा का मन्दिर उसी हार्दिक अनुराग से बनता रहा, जो किसी भक्त को अपने इष्ट-देव के साथ होता है। रात्रि के बारह घण्टे बीत गये। पूर्व की ओर प्रातः-काल का प्रकाश दिखायी देने लगा। मिलाप का समय निकट आया। इच्छा-रूपी अग्नि की लपट बढ़ी। दूजी उन ढेरों को बार-बार गिनती, महीनों के दिनों की गणना करती। कदाचित् एक दिन भी कम हो जाय। हाय, आजकल उसके

मन की वह दशा थी, जो प्रातःकाल सूर्य के सुनहरे प्रकाश में हलकोरे लेनेवाले सागर की होती है, जिसमें वायु की तरंगों से मुसकराता हुआ कमल झूलता है।

१५

आज दूजी इन पर्वतों और वनों से बिदा होती है। वह दिन आ पहुँचा, जिसकी राह देखते-देखते एक पूरा युग बीत गया। आज चौदह वर्ष के पश्चात् उसकी प्यासी अलकें नदी में लहरा रही हैं। बरगद की जटाएँ नागिन बन गयी हैं।

उस सुनसान बन से उसका चित्त कितना दुखित था। किन्तु आज उससे पृथक् होते हुए दूजी के नेत्र भर-भर आते हैं। जिस पाकर की छाया में उसने दुःख के दिन बिताये, जिस गुफा में उसने रो-रोकर रातें काटीं, उसे छोड़ते आज शोक हो रहा है। यह दुःख के साथी हैं।

सूर्य की किरणें दूजी की आशाओं की भाँति कुहरों की घटाओं को हटाती चली आती थीं। उसने अपने दुःख के मित्रों को अश्रु पूर्ण नेत्रों से देखा। पुनः ढेरों के पास गयी, जो उसके बारह वर्ष की तपस्या के स्मारक चिह्न थे। उन्हें एक-एक कर चूमा, मानो वह देवीजी के चबूतरे हैं। तब वह रोती हुई चली, जैसे लड़कियाँ ससुराल को चलती हैं।

सन्ध्या-समय उसने शहर में प्रवेश किया और पता लगाते हुए कैलासी के घर पर आयी। घर सूना पड़ा था। तब वह विनयकृष्ण बघेला का घर पूछते उनके बँगले पर आई। कुँवर महाशय टहलकर आये ही थे कि उसे खड़ी देखा। पास आये। उसके मुख पर घूँघट था। दूजी ने कहा—महाराज! मैं एक अनाथ दुखिया हूँ। कुँवर साहब ने आश्चर्य से पूछा—तुम दूजी हो! तुम इतने वर्षों कहाँ रहीं?

कुँवर साहब के प्रेम-भाव ने घूँघट और बढ़ा दिये। इन्हें मेरा नाम स्मरण है—यह सोचकर दूजी का कलेजा धड़कने लगा। लज्जा से सिर नीचे झुक गया। लजाती हुई बोली—जिसका कोई हितू नहीं है, उसका वन के सिवाय अन्यत्र कहाँ ठिकाना है। मैं भी वनों में रही। पयस्विनी नदी के किनारे एक गुफा में पड़ी रही।

कुँवर साहब विस्मित होगये। चौदह वर्ष! और नदी के किनारे गुफा में!

क्या कोई संन्यासी इससे अधिक त्याग कर सकता है? वह आश्चर्य से कुछ न बोल सके।

दूजी उन्हें चुपचाप देखकर बोली—मैं कैलासी के घर से सीधे पर्वतों में चली गयी और वहीं इतने दिन व्यतीत किये। चौदह वर्ष पूरे होगये। जिन भाइयों की गर्दन पर छुरी चलायी, उनके छूटने के दिन अब आये हैं। नारायण उन्हें कुशलतापूर्वक लावें। मैं चाहती हूँ कि उनके दर्शन करूँ और उनकी ओर से मेरे दिल में जो इच्छाएँ हैं, पूर्ण हो जायँ। कुँवर विनयकृष्ण बोले—तुम्हारा हिसाब बहुत ठीक है। मेरे पास आज कलकत्ते से सरकारी पत्र आया है कि दोनों भाई चौदह तारीख को कलकत्ता पहुँचेंगे। उनके सम्बन्धियों को सूचना दी जाय। यहाँ कदाचित् दो-तीन दिन में आ जायँगे। मैं सोच ही रहा था कि सूचना किसे दूँ। दूजी ने विनय-पूर्वक कहा—मेरा जी चाहता है कि वे जहाज पर से उतरें, तो मैं उनके पैरों पर माथा नवाऊँ, इसके पश्चात् मुझे संसार में कोई अभिलाषा न रहेगी। इसी लालसा ने मुझे इतने दिनों तक जिलाया है। नहीं तो मैं आपके सम्मुख कदापि न खड़ी होती।

कुँवर विनयकृष्ण गम्भीर स्वभाव के मनुष्य थे। दूजी के आन्तरिक रहस्य उनके चित्त पर एक गहरा प्रभाव डालते जाते थे। जब सारी अदालत दूजी पर हँसती थी, तब उन्हें उसके साथ सहानुभूति थी और आज उसका वृत्तान्त सुनकर वे इस ग्रामीण स्त्री के भक्त होगये। बोले—यदि तुम्हारी यह इच्छा है, तो मैं स्वयं तुम्हें कलकत्ता पहुँचा दूँगा। तुमने उनसे मिलने की जो रीति सोची है, उससे उत्तम दूसरी ध्यान में नहीं आ सकती। परन्तु तुम खड़ी हो और मैं बैठा हूँ, यह अच्छा नहीं लगता। दूजी, मैं बनावट नहीं करता, जिसमें इतना त्याग और संकल्प हो, वह यदि पुरुष है, तो देवता है; स्त्री है, तो देवी है। जब मैंने तुम्हें पहले देखा उसी समय मैंने समझ लिया था कि तुम साधारण स्त्री नहीं हो। जब तुम कैलासी के घर से चली गयी, तो सब लोग यही कहते थे कि तुम जान पर खेल गयी। परन्तु मेरा मन कहता था कि तुम जीवित हो। नेत्रों से पृथक् होकर भी तुम मेरे ध्यान से बाहर न हो सकीं। मैंने वर्षों तुम्हारी खोज की, मगर तुम ऐसे खोह में छिपी थीं कि तुम्हारा कुछ पता न चला।

इन बातों में कितना अनुराग था! दूजी को रोमांच होगया। हृदय बल्लियों

उछलने लगा। उस समय उसका मन चाहता था कि इनके पैरों पर सिर रख दूँ। कैलासी ने एक बार जो बात उससे कही थी, वह बात उसे इस समय स्मरण आयी। उसने भोलेपन से पूछा—क्या आप ही के कहने से कैलासी ने मुझे अपने घर में रख लिया था? कुँवर साहब लज्जित होकर बोले—मैं इसका उत्तर कुछ न दूँगा।

रात को जब दूजी एक ब्राह्मणी के घर नर्म बिछावन पर लेटी हुई थी, तो उसके मन की वह दशा हो रही थी, जो आश्विन मास के आकाश की होती है—एक ओर चन्द्र-प्रकाश, दूसरी ओर घनी घटा और तीसरी ओर झिलमिलाते हुए तारे।

१६

प्रातःकाल का समय था। 'गंगा' नामी स्टीमर बंगाल की खाड़ी में साभिमान गर्दन उठाये, समुद्र की लहरों को पैरों से कुचलता, हुगली के बन्दरगाह की ओर चला आता था। डेढ़ सहस्र से अधिक आदमी उसकी गोद में थे। अधिकतर व्यापारी थे। कुछ वैज्ञानिक तत्वों के अनुरागी, कुछ भ्रमण करनेवाले और कुछ ऐसे हिन्दुस्तानी मजदूर, जिनको अपनी मातृ-भूमि आकर्षित कर रही थी। उन्हींमें दोनों भाई—शानसिंह और गुमानसिंह एक कोने में बैठे निराशा की दृष्टि से किनारे की ओर देख रहे थे। दोनों हड्डियों के दो ढाँचे थे, उन्हें पहचानना कठिन था।

जहाज घाट पर पहुँचा। यात्रियों के मित्र और परिचित-जन किनारे पर स्वागत करने के लिए अधीर हो रहे थे। जहाज पर से उतरते ही प्रेम की बाढ़ आ गयी। मित्रगण परस्पर हाथ मिलाते थे। उनके नेत्र प्रेमाश्रु से परिपूर्ण थे। ये दोनों भाई शनैः-शनैः जहाज से उतरे, मानो किसीने ढकेलकर उतार दिया हो। उनके लिए जहाज के तख्ते और मातृ-भूमि में कुछ अन्तर न था। आये नहीं, बल्कि लाये गये थे। चिरकाल के कष्ट और शोक ने जीवन का ज्ञान भी शेष न छोड़ा था। साहस का लेशमात्र भी न था। इच्छाओं का अन्त हो चुका था। वह तट पर खड़े विस्मित दृष्टि से सामने देखते थे। कहाँ जायँ? उनके लिए इस संसार-क्षेत्र में कोई स्थान न दिखायी देता था।

तब दूजी उस भीड़ में से निकलकर आती दिखायी दी। उसने भाइयों को खड़े देखा। जिस भाँति जल खाल की ओर गिरता है, उसी प्रकार अधीरता

की उमंग में रोती हुई वह उनके चरणों में चिपट गयी। दाहने हाथ में शानसिंह के चरण थे, बायें हाथ में गुमानसिंह के, और नेत्रों से अश्रुधाराएँ प्रवाहित थीं, मानो दो सूखे वृक्षों की जड़ों में एक मुरझाई हुई बेल चिमटी हुई है या दो संन्यासी माया और मोह की बेड़ी में बँधे खड़े हैं। भाइयों के नेत्रों से भी आँसू बहने लगे। उनके मुख-मण्डल बादलों में से निकलनेवाले तारों की भाँति प्रकाशित होगये। ये दोनों पृथ्वी पर बैठ गये और तीनों भाई-बहन परस्पर गले मिलकर, बिलख-बिलख कर रोये। वह गहरी खाड़ी, जो भाइयों और बहिन के बीच में थी, अश्रु-धाराओं से परिपूर्ण होगयी। आज चौदह वर्ष के पश्चात् भाई और बहन में मिलाप हुआ, और वह घाव, जिसने मांस को मांस से, रक्त को रक्त से विलग कर दिया था, परिपूर्ण होगया और वह उस मरहम का काम था, जिससे अधिक लाभकारी और कोई मरहम नहीं होता, जो मन के मैल को साफ करता है। जो दुःख को भुलानेवाला और हृदय की दाह को शान्त करनेवाला है, जो व्यंग्य के विषैले घावों को भर देता है। यह काल का मरहम है।

दोनों भाई घर को लौटे। पट्टीदारों के स्वप्न भंग होगये। हितू-मित्र इकट्ठे हुए। ब्रह्मभोज का दिन निश्चित हुआ। पूड़ियाँ पकने लगीं—घी की सर्वश्रेष्ठ ब्राह्मणों के लिए, तेल की पासी चमारों के लिए। कालेपानी का पाप इस घी के साथ भस्म होगया।

दूजी भी कलकत्ते से भाइयों के साथ चली। प्रयाग तक आयी। कुँवर विनयकृष्ण भी उसके साथ थे। भाइयों से कुँवर साहब ने दूजी के सम्बन्ध में कुछ बातें की। उनकी भनक दूजी के कानों में पड़ी। प्रयाग में तीनों भाई-बहन रुक गये, त्रिवेणी में स्नान करते चलें। कुँवर विनयसिंह अपने ध्यान में सब कुछ ठीक करके मन प्रसन्न करनेवाली आशाओं का स्वप्न देखते हुए चले गये; किन्तु फिर वहाँ से दूजी का पता न चला। मालूम नहीं, क्या हुई, कहाँ चली गयी। कदाचित् गंगाजी ने उसे अपनी गोद में लेकर सदा के दुःख से मुक्त कर दिया। भाई बहुत रोये-पीटे, किन्तु क्या करते। जिस स्थान पर दूजी ने अपने बनवास के चौदह वर्ष व्यतीत किये थे, वहाँ दोनों भाई प्रति वर्ष जाते हैं और उन पत्थरों के ढेरों से चिमट-चिमटकर रोते हैं।

कुँवर साहब ने भी पेंशन लेली। अब चित्रकूट में रहते हैं। दार्शनिक विचारों

के पुरुष थे ; जिस प्रेम की खोज थी, वह न मिला। एक बार कुछ आशा दिखायी दी थी, जो चौदह वर्ष एक विचार के रूप में स्थित रही। एकाएक आशा की वह धुँधली झलक भी एक बार झिलमिलाते हुए दीपक की भाँति हँसकर सदा के लिए अदृश्य होगयी।

प्रारब्ध

१

लाला जीवनदास को मृत्यु-शय्या पर पड़े छः मास होगये हैं। अवस्था दिनों-दिन शोचनीय होती जाती है। चिकित्सा पर उन्हें अब ज़रा भी विश्वास नहीं रहा। केवल प्रारब्ध का ही भरोसा है। कोई हितैषी वैद्य या डाक्टर का नाम लेता है, तो वे मुँह फेर लेते हैं। उन्हें जीवन की अब कोई आशा नहीं है। यहाँ तक कि अब उन्हें अपनी बीमारी के ज़िक्र से भी घृणा होती है। एक क्षण के लिए भूल जाना चाहते हैं कि मैं काल के मुख में हूँ। एक क्षण के लिए इस दुस्साध्य चिन्ता-भार को सिर से फेंककर स्वाधीनता से साँस लेने के लिए उनका चित्त लालायित हो जाता है। उन्हें राजनीति से कभी रुचि नहीं रही। अपनी व्यक्तिगत चिन्ताओं ही में लीन रहते थे, लेकिन अब उन्हें राजनीतिक विषयों से विशेष प्रेम होगया है। अपनी बीमारी की चर्चा के अतिरिक्त वह प्रत्येक विषय को शौक से सुनते हैं; किन्तु ज्योंही किसीने सहानुभूति-भाव से किसी औषधि का नाम लिया कि उनकी त्योरी बदल जाती है। अंधकार में विलाप-ध्वनि इतनी आशाजनक नहीं होती, जितनी प्रकाश की एक झलक।

वह यथार्थवादी पुरुष थे। धर्म-अधर्म, स्वर्ग-नरक की व्यवस्थाएँ उनकी विचार-परिधि से बाहर थीं। यहाँ तक कि अज्ञातभय से भी वे शंकित न होते थे; लेकिन उसका कारण उनकी मानसिक शिथिलता न थी, बल्कि लोक-चिन्ता ने परलोक-चिन्ता का स्थान ही शेष न रखा था। उनका परिवार बहुत छोटा था—पत्नी थी और एक बालक; लेकिन स्वभाव उदार था, ऋण धन से बढ़ा रहता था। उस पर इस असाध्य और चिरकालीन रोग ने ऋण पर कई दर्जे की वृद्धि कर दी थी। मेरे पीछे इन निस्सहायों का क्या हाल होगा—यह ध्यान आते ही उनका चित्त विह्वल हो जाता था। इनका निर्वाह कैसे होगा? ये किसके सामने हाथ फैलायेंगे? कौन इनकी खबर लेगा? हाय! मैंने विवाह क्यों किया? पारिवारिक बन्धन में क्यों फँसा? क्या इसलिए कि ये संसार के

हिमतुल्य दया के पात्र बनें, क्या अपने कुल की प्रतिष्ठा और सम्मान को यों विनष्ट होने दूँ ? जिस दुर्गादास ने सारे नगर को अपनी अनुग्रह-वृष्टि से प्लावित कर दिया था, उसीके पोते और बहू द्वार-द्वार ठोकरें खाते फिरें !

हाय क्या होगा ? कोई अपना नहीं, चारों ओर भयावह वन है ! कहीं मार्ग का पता नहीं ! यह सरला रमणी, यह अबोध बालक, इन्हें किसपर छोड़ूँ ?

हम अपनी आन पर जान देते थे। हमने किसीके सामने सिर नहीं झुकाया। किसी के ऋणी नहीं हुए। सदैव गर्दन उठाकर चले, और अब यह नौबत है कि कफन का भी ठिकाना नहीं !

२

अधीरात गुजर चुकी थी। जीवनदास की हालत आज बहुत नाजुक थी। बार-बार मूर्च्छा आ जाती ; बार-बार हृदय की गति रुक जाती। उन्हें ज्ञात होता था कि अब अन्त निकट है। कमरे में एक लम्प जल रहा था। उनकी चारपाई के समीप ही प्रभावती और उसका बालक साथ सोये हुए थे। जीवनदास ने कमरे की दीवारों को निराशा-पूर्ण नेत्रों से देखा, जैसे कोई भटका हुआ पथिक निवास-स्थान की खोज में हो। चारों ओर से घूमकर उनकी आँखें प्रभावती के चेहरे पर जम गयीं। हा ! यह सुन्दरी एक क्षण में विधवा हो जायगी ? यह बालक पितृहीन हो जायगा ? यही दोनों व्यक्ति मेरी जीवन-आशाओं के केन्द्र थे। मैंने जो कुछ किया, इन्हींके लिए किया। मैंने अपना जीवन इन्हींपर समर्पण कर दिया था और अब इन्हें मँझधार में छोड़ जाता हूँ, इसीलिए कि वे विपत्ति-भँवर के कौर बन जायँ। इन विचारों ने उनके हृदय को मसोस दिया। आँखों से आँसू बहने लगे।

अचानक उनके विचार-प्रवाह में एक विचित्र परिवर्तन हुआ। निराशा की जगह मुख पर एक दृढ़ संकल्प की आभा दिखायी दी, जैसे किसी गृहस्वामिनी की झिड़कियाँ सुनकर एक दीन भिक्षुक के तीवर बदल जाते हैं। नहीं, कदापि नहीं। मैं अपने प्रिय पुत्र, अपनी प्राणप्रिया पत्नी पर प्रारब्ध का अत्याचार न होने दूँगा। अपने कुल की मर्यादा को यों भ्रष्ट न होने दूँगा। एक अबला को जीवन की कठिन परीक्षा में न डालूँगा। मैं मर रहा हूँ ; लेकिन प्रारब्ध के सामने

सिर न झुकाऊँगा। उसका दास नहीं, स्वामी बनूँगा। अपनी नौका को निर्दय तरंगों की आश्रिता न बनने दूँगा।

निस्सन्देह संसार मुँह बनायेगा। मुझे दुरात्मा, घातक, नराधम कहेगा, इसलिए कि उसके पाशविक आमोद में, उसकी पैशाचिक क्रीड़ाओं में एक व्यवस्था कम हो जायगी। कोई चिन्ता नहीं, मुझे यह सन्तोष तो रहेगा कि उसका अत्याचार मेरा बाल भी बाँका नहीं कर सकता, उसकी अनर्थ लीला से मैं सुरक्षित हूं।

जीवनदास के मुख पर वर्णहीन संकल्प अंकित था—वह संकल्प, जो आत्म-हत्या का सूचक है। वह बिछौने से उठे, मगर हाथ-पाँव थर-थर काँप रहे थे। कमरे की प्रत्येक वस्तु उन्हें आँखें फाड़-फाड़कर देखती हुई जान पड़ती थी। आलमारी के शीशे में अपनी परछाईं दिखायी दी। चौंक पड़े, वह कौन? ख्याल आ गया, यह तो अपनी छाया है। उन्होंने आलमारी से एक चमचा और एक प्याला निकाला। प्याले में वह जहरीली दवा थी, जो डाक्टर ने उनकी छाती पर मलने के लिए दी थी। प्याले को हाथ में लिये, चारों ओर सहमी हुई दृष्टि से ताकते हुए वह प्रभावती के सिरहाने आकर खड़े होगये। हृदय पर करुणा का आवेग हुआ। आह! इन प्यारों को क्या मेरे ही हाथों मरना लिखा था? मैं ही इनका यमदूत बनूँगा। यह अपने ही कर्मों का फल है। मैं आँखें बन्द करके वैवाहिक बन्धन में फँसा। इन भावी आपदाओं की ओर क्यों मेरा ध्यान न गया? मैं उस समय ऐसा हर्षित और प्रफुल्लित था, मानो जीवन एक अनादि सुख-स्वर है, एक सुधामय आनन्द-सरोवर। यह इसी अदूरदर्शिता का परिणाम है कि आज मैं यह दुर्दिन देख रहा हूँ।

हठात् उनके पैरों में कम्पन हुआ, आँखों में अँधेरा छा गया, नाड़ी की गति बन्द होने लगी। वे करुणामयी भावनाएँ मिट गयीं। शंका हुई, कौन जाने यही दौरा जीवन का अन्त न हो। वह सँभलकर उठे और प्याले से दवा का एक चम्मच निकालकर प्रभावती के मुँह में डाल दिया। उसने नींद में दो-एक बार मुँह डुलाकर करवट बदल ली। तब उन्होंने लल्लनदास का मुँह खोलकर उसमें भी एक चम्मच-भर दवा डाल दी और प्याले को जमीन पर पटक दिया। पर, हा! मानव-परवशता! हा प्रबल भावी! भाग्य की विषम क्रीड़ा अब भी

उनसे चाल चल रही थी। प्याले में विष न था। वह टानिक था, जो डाक्टर ने उनका बल बढ़ाने के लिए दिया था।

प्याले को रखते ही उनके काँपते हुए पैर स्थिर होगये, मूर्च्छा के सब लक्षण जाते रहे। चित्त पर भय का प्रकोप हुआ। वह कमरे में एक क्षण भी न ठहर सके। हत्या-प्रकाश का भय हत्या-कर्म से भी कहीं दारुण था। उन्हें दण्ड की चिन्ता न थी; पर निन्दा और तिरस्कार से बचना चाहते थे। वह घर से इस तरह बाहर निकले, जैसे किसीने उन्हें ढकेल दिया हो। उनके अंगों में कभी इतनी स्फूर्ति न थी। घर सड़क पर था, द्वार पर एक ताँगा मिला। उसपर जा बैठे। नाड़ियों में विद्युत्-शक्ति दौड़ रही थी।

ताँगेवाले ने पूछा—कहाँ चलूँ?

"जहाँ चाहो।"

"स्टेशन चलूँ?"

"वहीं सही।"

"छोटी लैन चलूँ या बड़ी लैन?"

"जहाँ गाड़ी जल्द मिल जाय।"

ताँगेवाले ने उन्हें कौतूहल से देखा। परिचित था, बोला—आपकी तबीयत अच्छी नहीं है, क्या और कोई साथ न जायगा?

"नहीं, मैं अकेला ही जाऊँगा।"

"आप कहाँ जाना चाहते हैं?"

"बहुत बातें न करो, यहाँ से जल्द चलो।"

ताँगेवाले ने घोड़े को चाबुक लगाया और स्टेशन की ओर चला। जीवनदास वहाँ पहुँचते ही ताँगे से कूद पड़े और स्टेशन के अन्दर चले। ताँगेवाले ने कहा—पैसे?

जीवनदास को अब ज्ञात हुआ कि मैं घर से कुछ नहीं लेकर चला, यहाँ तक कि शरीर पर वस्त्र भी न थे। बोले—पैसे फिर मिलेंगे।

"आप न-जाने कब लौटेंगे।"

"मेरा जूता नया है, ले लो।"

ताँगेवाले का आश्चर्य और भी बढ़ा। समझा, इन्होंने शराब पी है, अपने आपे में नहीं हैं। चुपके से जूते लिये और चलता हुआ।

गाड़ी के आने में अभी घण्टों की देर थी। जीवनदास प्लैटफाम पर जाकर टहलने लगे। धीरे-धीरे उनकी गति तीव्र होने लगी, मानो कोई उनका पीछा कर रहा है। उन्हें इसकी बिलकुल चिन्ता न थी कि मैं खाली-हाथ हूँ। जाड़े के दिन थे। लोग सरदी के मारे अकड़े जाते थे; किन्तु उन्हें ओढ़ने-बिछौने की भी सुधि न थी। उनकी चैतन्य-शक्ति नष्ट होगयी थी; केवल अपने दुष्कर्म का ज्ञान जीवित था। ऐसी शंका होती थी कि प्रभावती मेरे पीछे दौड़ी चली आती है, कभी भ्रम होता कि लखनदास भागता हुआ आ रहा है, कभी पड़ोसियों के धर-पकड़ की आवाज कानों में आती थी, उनकी कल्पना प्रतिक्षण उत्तेजित होती जाती थी, यहाँ तक कि वह प्राण-भय से माल के बोरों के बीच में जा छिपे। एक-एक मिनट पर चौंक पड़ते थे और सशंक नेत्रों से इधर-उधर देखकर छिप जाते थे। उन्हें अब यह भी स्मरण न रहा कि मैं यहाँ क्या करने आया हूँ, केवल अपनी प्राण-रक्षा का ज्ञान शेष था। घंटियाँ बजीं, मुसाफिरों के झुण्ड-के-झुण्ड आने लगे, कुलियों की बक-झक, मुसाफिरों की चीख और पुकार, आने-जानेवाले एञ्जिनों की धक्-धक् से हाहाकार मचा हुआ था; किन्तु जीवनदास उन जड़ बोरों के बीच में इस तरह पैंतरे बदल रहे थे मानो वे चैतन्य होकर उन्हें घेरना चाहते हैं।

निदान, गाड़ी स्टेशन पर आकर खड़ी होगयी। जीवनदास सँभल गये। स्मृति जागृत होगयी। लपककर बोरों में से निकले और एक कमरे में जा बैठे।

इतने में गाड़ी के द्वार पर 'खट-खट' की ध्वनि सुनायी दी। जीवनदास ने चौंककर देखा, टिकट का निरीक्षक खड़ा था। उनकी अचेतनावस्था भंग होगयी। वह कौन-सा नशा है, जो मार के आगे भाग न जाय। व्याधि की शंका संज्ञा को जागृत कर देती है। उन्होंने शीघ्रता से जल-गृह खोला और उसमें घुस गये। निरीक्षक ने पूछा—और कोई नहीं? मुसाफिरों ने एक स्वर से कहा—अब कोई नहीं है। जनता को अधिकार-गर्व से एक नैसर्गिक द्वेष होता है। गाड़ी चली तो जीवनदास बाहर निकले। यात्रियों ने एक प्रचण्ड हास्य-ध्वनि से उनका स्वागत किया। यह देहरा दन मेल था।

३

रास्ते-भर जीवनदास कल्पनाओं में मग्न रहे। हरद्वार पहुँचे, तो उनकी मानसिक अशान्ति बहुत-कुछ कम होगयी थी। एक क्षेत्र से कम्बल लाये, भोजन किया और वहीं पड़ रहे। अनुग्रह के कच्चे धागे को वह लोहे की बेड़ी समझते थे ; पर दुरवस्था ने आत्म-गौरव का नाश कर दिया था।

इस भाँति कई दिन बीत गये ; किन्तु मौत का तो कहना ही क्या, वह व्याधि भी शान्त होने लगी, जिसने उन्हें जीवन से निराश कर दिया था। उनकी शक्ति दिनोंदिन बढ़ने लगी। मुख की कान्ति प्रदीप्त होने लगी। वायु का प्रकोप शान्त होगया, मानो दो प्रिय प्राणियों के बलिदान ने मृत्यु को तृप्त कर दिया था।

जीवनदास की यह रोग-निवृत्ति एक दारुण रोग से भी अधिक दुःखदायी प्रतीत होती थी। वे अब मृत्यु का आह्वान करते, ईश्वर से प्रार्थना करते कि फिर उसी जीर्णावस्था का दुरागमन हो। नाना प्रकार के कुपथ्य करते ; किन्तु कोई प्रयत्न सफल न होता था। उन बलिदानों ने वास्तव में यमराज को सन्तुष्ट कर दिया था।

अब उन्हें चिन्ता होने लगी, क्या मैं वास्तव में जिन्दा रहूँगा। लक्षण ऐसे ही दीख पड़ते थे। नित्यप्रति यह शङ्का प्रबल होती जाती थी। उन्होंने प्रारब्ध को अपने पैरों पर झुकाना चाहा था ; पर अब वह स्वयं उसके पैरों की रज चाट रहे थे। उन्हें बारम्बार अपने ऊपर क्रोध आता, कभी व्यग्र होकर उठते कि जीवन का अन्त कर दूँ, तकदीर को दिखा दूँ कि मैं अब भी उसे कुचल सकता हूँ ; किन्तु उसके हाथों इतनी विकट यन्त्रणा भोगने के बाद उन्हें भय होता था कि कहीं इससे भी जटिल समस्या न उपस्थित हो जाय ; क्योंकि उन्हें उसकी शक्ति का कुछ-कुछ अनुमान होगया था।

इन विचारों ने उनके मन में नास्तिकता के भाव उत्पन्न किये। वर्तमान भौतिक शिक्षा ने उन्हें पहले ही अनात्मवादी बना दिया था। अब उन्हें समस्त प्रकृति अनर्थ और अधर्म के रंग में डूबी हुई मालूम होने लगेगी। यहाँ न्याय नहीं, दया नहीं, सत्य नहीं ; असम्भव है कि यह सृष्टि किसी कृपालु शक्ति के अधीन हो और उसके ज्ञान में नित्य ऐसे बीभत्स, ऐसे भीषण अभिनय होते

रहें। वह न दयालु है, न वत्सल है। वह सर्वज्ञानी और अन्तर्यामी भी नहीं; निस्सन्देह वह एक विनाशिनी, वक्र और विकारमय शक्ति है। सांसारिक प्राणियों ने उसकी अनिष्ट क्रीड़ा से भयभीत होकर उसे सत्य का सागर, दया और धर्म का भाण्डार, प्रकाश और ज्ञान का स्रोत बना दिया है। यह हमारा दीन विलाप है; अपनी दुर्बलता का करुण अश्रुपात। इसी शक्तिहीनता को, इसी निस्सहायता को हम उपासना और आराधना कहते हैं और उसपर गर्व करते हैं। दार्शनिकों का कथन है कि यह प्रकृति अटल नियमों के अधीन है, यह भी उनकी श्रद्धालुता है। नियम जड़ अचैतन्य होते हैं, उनमें कपट के भाव कहाँ? इधर नियमों का सञ्चालक, इस इन्द्रजाल का मदारी अवश्य है, यह स्पष्ट है; किन्तु वह प्राणी देवता नहीं, पिशाच है।

इन भावों ने शनैः-शनैः क्रियात्मक रूप धारण किया। सद्भक्ति हमें ऊपर ले जाती है, असद्भक्ति हमें नीचे गिराती है। जीवनदास की नौका का लंगर उखड़ गया। अब उसका न कोई लक्ष्य था और न कोई आधार, तरंगों में डाँवाडोल होती रहती थी।

४

पन्द्रह वर्ष बीत गये। जीवनदास का जीवन आनन्द और विलास में कटता था। रमणीक निवासस्थान था, सवारियाँ थीं, नौकर-चाकर थे। नित्य राग-रंग होता रहता था। अब इन्द्रिय-लिप्सा उनका धर्म था, वासना-तृप्ति उनका जीवन-तत्त्व। वे विचार और विवेक के बन्धनों से मुक्त होगये थे। नीति और अनीति का ज्ञान लुप्त हो गया था। साधनों की भी कमी न थी। बँधे बैल और छूटे साँड़ में बड़ा अन्तर है। एक रातिब पाकर भी दुर्बल है; दूसरा घास-पात ही खाकर मस्त हो रहा है। स्वाधीनता बड़ी पोषक वस्तु है।

जीवनदास को अब अपनी स्त्री और बालक की याद न सताती थी। भूत और भविष्य का उनके हृदय पर कोई चिह्न न था। उनकी निगाह केवल वर्तमान पर रहती थी। वह धर्म को अधर्म समझते थे और अधर्म को धर्म। उन्हें सृष्टि का यह मूल तत्त्व प्रतीत होता था। उनका जीवन स्वयं इसी दुर्नीति का उज्ज्वल प्रमाण था। आत्म-बन्धन को तोड़कर वे जितने उत्थित हुए, वहाँ तक उन बन्धनों में पड़े हुए उनकी दृष्टि भी न पहुँच सकती थी। जिधर आँख उठती,

अधर्म का साम्राज्य दीख पड़ता था। यही सफल जीवन का मन्त्र था। स्वेच्छाचारी हवा में उड़ते हैं, धर्म के सेवक एड़ियाँ रगड़ते हैं। वे व्यापार और राजनीति के भवन, ज्ञान और भक्ति के मन्दिर, साहित्य और काव्य की रंगशाला, प्रेम और अनुराग की मंडलियाँ—सब इसी दीपक से आलोकित हो रही हैं। ऐसी विराट् ज्योति की आराधना क्यों न की जाय ?

गरमी के दिन थे, संध्या का समय; हरिद्वार के रेलवे-स्टेशन पर यात्रियों की भीड़ थी। जीवनदास एक गेरुए रंग की रेशमी चादर गले में डाले, सुनहरी चश्मा लगाये, दिव्य ज्ञान की मूर्ति बने हुए अपने सहचरों के साथ प्लैटफार्म पर टहल रहे थे। उनकी भेदक दृष्टि यात्रियों पर लगी हुई थी। अचानक उन्हें दूसरे दर्जे के कमरे में एक शिकार दिखाई दिया। यह एक रूपवान युवक था। चेहरे से प्रतिभा झलक रही थी। उसकी घड़ी की जंजीर सुनहरी थी, तंजेब की अचकन के बटन भी सोने के थे। जिस प्रकार वधिक की दृष्टि पशु के मांस और चर्म पर रहती है, उसी प्रकार जीवनदास की दृष्टि में मनुष्य एक भोग्य पदार्थ था। उनके अनुमान ने आश्चर्यजनक कुशलता प्राप्त कर ली थी और उसमें कभी भूल न होती थी। यह युवक अवश्य कोई रईस है। सरल और गौरवशील भी है, अतएव सुगमता से जाल में फँस जायगा। उसपर अपनी सिद्धता का सिक्का बिठाना चाहिए। उसकी सरल-हृदयता पर निशाना मारना चाहिए। मैं गुरु बनूँ, वे दोनों मेरे शिष्य बन जायँ, छल की घातें चलें, मेरी अपार विद्वत्ता, अलौकिक कीर्ति और अगाध वैराग्य का मधुर गान हो, शब्दाडम्बरों के दाने बिखेर दिये जायँ और मृग पर फंदा डाल दिया जाय।

यह निश्चय करके जीवनदास कमरे में दाखिल हुए। युवक ने उनकी ओर गौर से देखा, जैसे अपने भूले हुए मित्र को पहचानने की चेष्टा कर रहा हो। तब अधीर होकर बोला—महात्माजी, आपका स्थान कहाँ है ?

जीवनदास प्रसन्न होकर बोले—बाबा, सन्तों का स्थान कहाँ ? समस्त संसार हमारा स्थान है।

युवक ने फिर पूछा—आप लाला जीवनदास तो नहीं हैं ?

जीवनदास चौंक पड़े। छाती बल्लियों उछलने लगा। चेहरे पर हवाइयाँ

उड़ने लगीं। कहीं यह खुफिया पुलिस का कर्मचारी तो नहीं है? कुछ निश्चय न कर सके, क्या उत्तर दूँ। गुम-सुम होगये।

युवक ने उन्हें असमंजस में पड़े देखकर कहा—मेरी यह धृष्टता क्षमा कीजिएगा। मैंने यह बात इसलिए पूछी कि आपका श्रीमुख मेरे पिताजी से बहुत मिलता है। वे बहुत दिनों से गायब हैं। लोग कहते हैं, संन्यासी होगये। बरसों से उन्हींकी तलाश में मारा-मारा फिर रहा हूँ।

जिस प्रकार क्षितिज पर मेघराशि चढ़ती है और क्षणमात्र में सम्पूर्ण वायु-मण्डल को घेर लेती है, उसी प्रकार जीवनदास को अपने हृदय में पूर्व-स्मृतियों की एक लहर-सी उठती हुई मालूम हुई। गला फँस गया, और आँखों के सामने प्रत्येक वस्तु तैरती हुई जान पड़ने लगी। युवक की ओर सचेष्ट नेत्रों से देखा, स्मृति सजग होगयी। उसके गले से लिपटकर बोले—लक्खू!

लखनदास उनके पैरों पर गिर पड़ा।

"मैंने बिलकुल नहीं पहचाना।"

"एक युग होगया।"

५

आधीरात गुजर चुकी थी। लखनदास सो रहा था और जीवनदास खिड़की से सिर निकाले विचारों में मग्न थे। प्रारब्ध का एक नया अभिनय उनके नेत्रों के सामने था। वह धारणा, जो अतीत काल से उनकी पथ प्रदर्शक बनी हुई थी, हिल गयी। मुझे अहंकार ने कितना विवेकहीन बना दिया था! समझता था, मैं ही सृष्टि का सञ्चालक हूँ, मेरे मरने पर परिवार का अधःपतन हो जायगा; पर मेरी यह दुश्चिन्ता कितनी मिथ्या निकली। जिन्हें मैंने विष दिया, वे आज जीवित हैं, सुखी हैं और सम्पत्तिशाली हैं। असम्भव था कि मैं लक्खू को ऐसी उच्च शिक्षा दे सकता। माता के पुत्र-प्रेम और अध्यवसाय ने कठिन मार्ग कितना सुगम कर दिया। मैं उसे इतना सच्चरित्र, इतना दृढ़संकल्प, इतना कर्त्तव्यशील कभी न बना सकता। यह स्वावलम्बन का फल है। मेरा विष उसके लिए अमृत होगया। कितना विनयशील, हँसमुख, निस्पृह और चतुर युवक है! मुझे तो अब उसके साथ बैठते भी संकोच होता है। मेरा सौभाग्य कैसा उदय हुआ है! मैं विराट् जगत् को किसी पैशाचिक शक्ति के अधीन समझता था, जो दीन प्राणियों

के साथ बिल्ली और चूहे का खेल खेलती है। हा मूर्खता, हा अज्ञान ! आज मुझ-जैसा पापी मनुष्य इतना सुखी है। इसमें सन्देह नहीं, इस जगत् का स्वामी दया और कृपा का महासागर है। प्रातःकाल मुझे उस देवी से साक्षात् होगा, जिसके साथ जीवन के क्या-क्या सुख नहीं भोगे ! मेरे पोते और पोतियाँ मेरी गोद में खेलेंगी ! मित्रगण मेरा स्वागत करेंगे। ऐसे दयामय भगवान् को मैं अमंगल का मूल समझता था।

इन विचारों में पड़े हुए जीवनदास को नींद आगयी। जब आँखें खुलीं, तो "लखनऊ" की प्रिय और चिर-परिचित ध्वनि कानों में आयी। वे चौंककर उठ बैठे। लखनदास असबाब उतरवा रहे थे। स्टेशन के बाहर उनकी फिटन खड़ी थी। दोनों आदमी उसपर बैठे। जीवनदास का हृदय आह्लाद से भर रहा था। वे मौन-रूप बैठे हुए थे, मानो समाधि में हों।

फिटन चली। जीवनदास को प्रायः सभी चीजें नयी मालूम होती थीं। न वे बाजार, न वे गली-कूचे, न वे प्राणी थे। एक युगान्तर-सा होगया था। निदान उन्हें एक रमणीक बँगला-सा दिखायी पड़ा, जिसके द्वार पर मोटे अक्षरों में अंकित था—

"जीवनदास-पाठशाला"

जीवनदास ने विस्मित होकर पूछा—यह क्या है ?

लखनदास ने कहा—माताजी ने आपके स्मृति-रूप यह पाठशाला खोली है। कई लड़के छात्रवृत्ति पाते हैं।

जीवनदास का दिल और भी बैठ गया। मुँह से एक ठण्ढी साँस निकल आयी।

थोड़ी देर के बाद फिटन रुकी, लखनदास उतर पड़े। नौकरों ने असबाब उतारना शुरू किया। जीवनदास ने देखा, तो एक पक्का दोमंजिला मकान था। उनके पुराने खपरैलवाले घर का कोई चिह्न न था। केवल एक नीम का वृक्ष बाकी था। दो कोमल बालक 'बाबूजी' कहते हुए दौड़े और लखनदास के पैरों से लिपट गये। घर में एक हलचल-सी मच गयी। दीवानखाना खुल गया, जो खूब सजा हुआ था। दीवानखाने के पीछे एक सुन्दर पुष्पवाटिका थी। जीवनदास ऐसे चकित हो रहे थे, मानो कोई तिलिस्म देख रहे हों।

६

रात्रि का समय था। बारह बज चुके थे। जीवनदास को किसी करवट नींद न आती थी। अपने जीवन का चित्र उनके सामने था। इन पन्द्रह वर्षों में उन्होंने जो काँटे बोये थे, वे इस समय उनके हृदय में चुभ रहे थे। जो गढ़े खोदे थे, वे उन्हें निगलने के लिए मुँह खोले हुए थे। उनकी दशा में एक ही दिन में घोर परिवर्तन होगया था। अभक्ति और अविश्वास की जगह विश्वास का अभ्युदय होगया था; और यह विश्वास केवल मानसिक न था, वरन् प्रत्यक्ष था। ईश्वरीय न्याय का भय एक भयङ्कर मूर्ति के सदृश उनके सामने खड़ा था। उससे बचने की अब उन्हें कोई युक्ति नजर न आती थी। अबतक उसकी स्थिति उस आग की चिनगारी के समान थी, जो किसी मरुभूमि पर पड़ी हुई हो। उससे हानि की कोई शङ्का न थी; लेकिन आज वह चिनगारी एक खलिहान के पास पड़ी हुई थी। मालूम नहीं, कब वह प्रज्ज्वलित होकर खलिहान को भस्मीभूत कर दे।

ज्यों-ज्यों रात गुजरती थी, यह भय ग्लानि का रूप धारण करता जाता था। हा शोक! मैं इस योग्य भी नहीं कि इस साक्षात् क्षमा और दया को अपना कलुषित मुँह दिखाऊँ। उसने मुझपर सदैव करुणा और वात्सल्य की दृष्टि रक्खी और यह शुभ-दिन दिखाया। मेरी कालिमा उसकी उज्ज्वल कीर्ति पर एक काला दाग है। मेरी कलुषता क्या इस मंगल चित्र को कलुषित न कर देगी? मेरी पापाग्नि के स्पर्श से क्या यह हरा-भरा उद्यान मटियामेट न हो जायगा? मेरी अपकीर्ति कभी-न-कभी प्रकट होकर इस कुल की मर्यादा और सम्मान को नष्ट न कर देगी? मेरे जीवन से अब किसको सुख है? कदाचित् भगवान् ने मुझे लज्जित करने के लिए, मुझे अपनी तुच्छता को अवगत करने के लिए, मेरे गले में अनुताप की फाँसी डालने के लिए यह अद्भुत लीला दिखायी है। हा! इसी कुल की मर्यादा की रक्षा के लिए भीषण हत्याएँ की थीं? क्या अब जीवित रहकर इसकी वह दुर्दशा कर दूँ, जो मरकर भी न कर सका? मेरे हाथ खून से लाल हो रहे हैं। परमात्मन्! वह खून रंग न लाये। यह हृदय पापों के कीटाणु से जर्जर हो रहा है। भगवन्, यह कुल उसके छूत से बचा रहे।

इन विचारों ने जीवनदास में ग्लानि और भय के भावों को इतना उत्तेजित

किया कि वह विकल होगये। जैसे परती भूमि में बीज का असाधारण विकास और प्रसार होता है, उसी तरह विश्वासहीन हृदय में जब विश्वास का बीज पड़ता है, तो उसमें सजीवता और विकास का दुर्भाव होता है। उसमें विचार के बदले व्यवहार का प्राधान्य होता है। आत्म-समर्पण उसका विशेष लक्ष्य होता है। जीवनदास को अपने चारों तरफ एक सर्वव्यापी शक्ति, एक विराट् आत्मा का अनुभव हो रहा था। प्रतिक्षण उसकी कल्पना सजग और प्रदीप्त होती जाती थी। अपने जीवन की घटनाएँ ज्वाला शिखा बन-बनकर उस घर की ओर, उस मंगल और आनन्द के निवास-भवन की ओर दौड़ती हुई जान पड़ती थीं, मानो उसे निगल जायँगी।

पूर्व की ओर आकाश अरुण वर्ण हो रहा था। जीवनदास की आँखें भी अरुण थीं। वे घर से निकले। हाथ में केवल एक धोती थी। उन्होंने अपने अनिष्टमय अस्तित्व को मिटा देने का निश्चय कर लिया था। अपनी पापाग्नि की आँच से अपने परिवार को बचाने का संकल्प कर चुके थे। प्राण-पण से अपने आत्म-शोक और हृदय-दाह को शान्त करने पर उद्यत होगये थे।

सूर्योदय हो रहा था। उसी समय जीवनदास गोमती की लहरों में समा गये।